ॐ श्रीपरमात्मने नमः

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

( संस्करण १,५१,००० )

## विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०३, अप्रैल १९७७


| विषय | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|
| १—गज-ग्राहका उद्धार [ सूरसागर ] ··· | ९७ |
| २—कल्याण ( श्रीभाईजी ) ··· ··· | ९८ |
| ३—समदर्शन [ संतोंकी दृष्टि ] ( पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाका प्रसाद ) ··· ··· | ९९ |
| ४—अभ्यर्थना [ कविता ] ( स्वामी श्रीसनातनदेवजी ) ··· ··· | १०० |
| ५—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश ··· ··· | १०१ |
| ६—पञ्चामृत [ शास्त्र-सुधा-सार ] ··· | १०५ |
| ७—निष्काम कर्म ( डॉ० श्रीविद्याधरजी घस्माना, एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०, पी-एच्० डी० ) ··· ··· | १०६ |
| ८—जहाँ काम तहँ राम नहिं ( संत कबीरदासजी ) ··· ··· | १०९ |
| ९—मानसमें पूर्वराग ( पं० श्रीदादूरामजी शर्मा, एम्० ए० ) ··· ··· | ११० |
| १०—सियारामकी जोरी [ गीतावली ] ··· | ११४ |
| ११—भगवत्प्रेम ही विश्वप्रेम है ( नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन ) ··· ··· | ११५ |
| १२—सोऽहम् ( स्वर्गीय राष्ट्रकवि श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त ) ··· ··· | १२० |
| १३—गीताका ज्ञानयोग—२६ [ श्रीमद्भगवद्गीता-के १४वें अध्यायकी विस्तृत व्याख्या ] ( श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज ) ··· ··· | १२१ |
| १४—चमत्कारपूर्ण काव्य [ संकलित ] ··· | १२३ |
| १५—विपत्तिके सखा ( श्रीशिवानन्दजी ) ··· | १२४ |
| १६—विपत्ति और स्थितप्रज्ञता [ संकलित ] ··· | १२८ |
| १७—महामुनि बादरायणकी ब्रह्मजिज्ञासा [ मूल बँगलासे रूपान्तरित ] ( ब्रह्मलीन आचार्य श्रीअक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय ) [ रूपान्तरकार—श्रीरतनलालजी गुप्त ] ··· | १२९ |
| १८—ब्रह्मानन्दकी अनिर्वचनीयता [ संकलित ] ··· ··· | १३१ |
| १९—विद्या-प्राप्तिके महत्त्वपूर्ण सूत्र ( एक कल्याणप्रेमी ) ··· ··· | १३२ |
| २०—साधकोंके प्रति ··· ··· | १३५ |
| २१—श्रद्धाकी महत्ता ( पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र, काव्य-व्याकरण-सांख्य-स्मृतितीर्थ ) | १३७ |
| २२—भक्तकवि श्रीकृष्णदयार्णव ( श्री प्रा० ब० रा० कस्तुरे, एम्० ए०, बी० टी० ) ··· | १३८ |
| २३—अमृत-बिन्दु ··· ··· | १४० |
| २४—उद्बोधन [ कविता ] ( श्रीनागरीदासजी ) | १४० |
| २५—पढ़ो, समझो और करो ··· ··· | १४१ |
| २६—'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क—'सदाचार-अङ्क' ··· ··· | १४३ |


### चित्र-सूची


( रेखाचित्र )

१—भगवान् कच्छप ··· आवरण-पृष्ठ

( तिरंगा )

२—गज-ग्राहका उद्धार ··· मुखपृष्ठ ९७


Free of Charge ] जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ [ बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
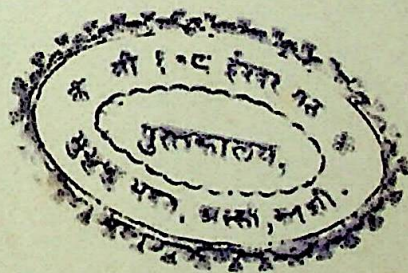
गज-ग्राहका उद्धार

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

# कल्याण

वेदा येन समुद्धृता वसुमती पृष्ठे धृताप्युद्धृता दैत्येशो नखरैर्हतः फणिपतेर्लोकं बलिः प्रापितः।
क्ष्माऽक्षत्रा जगती दशास्यरहिता माता कृता रोहिणी हिंसा दोषवती धराप्ययवना पायात् स नारायणः॥

वर्ष ५१ } गोरखपुर, सौर वैशाख, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०३, अप्रैल १९७७ { संख्या ४
पूर्ण संख्या ६०५

## गज-ग्राहका उद्धार

झाईं* न मिटन पाई, आए हरि आतुर ह्वै,
जान्यौ जब गज, ग्राह लिए जात जल मैं।
जादौपति, जदुनाथ, छाँड़ि खगपति-साथ,
जानि जन विह्वल, छुड़ाय लीन्हौ पल मैं ॥
नीरहू तैं न्यारौ कीनौ, चक्र नक्र-सीस छीनौ,
देवकी के प्यारे लाल ऐंचि लाए थल मैं।
कहै सूरदास, देखि नैननिकी मिटी प्यास,
कृपा कीन्ही गोपीनाथ, आए भुव-तल मैं ॥

( सूरसागर ८ । ४३२ )

*-प्रतिध्वनि।

अप्रैल १— २—

# कल्याण

दृढ़ निश्चय कीजिये कि 'मैं शरीर नहीं हूँ, मैं नाम नहीं हूँ। ये नाम-रूप मुझमें आरोपित हैं। इनसे मेरा वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीरके नाशसे मेरा कुछ भी नहीं बिगड़ता, नामकी बदनामीसे मेरी बदनामी नहीं होती। मैं अमर हूँ, अजर हूँ, निष्कलङ्क हूँ, शुद्ध हूँ, सनातन हूँ, सदा एकरस हूँ, कभी घटने-बढ़नेवाला नहीं हूँ, शरीरके उपजनेसे मैं उपजता नहीं, शरीरके नष्ट होनेपर मैं नष्ट नहीं होता। मैं नित्य हूँ, असङ्ग हूँ, अव्यय हूँ, अज हूँ। मेरे स्वरूपमें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ता।'

जो कुछ परिवर्तन होता है, सब नाम-रूपमें होता है। नाम-रूपसे आत्मा सर्वथा पृथक् है। माताके गर्भमें जब जीवात्मा आया, उस समय उसका यह स्थूल शरीर ( रूप ) नहीं था; परंतु जीवात्मा था। मरनेके बाद शरीर नष्ट हो जायगा; परंतु जीवात्मा रहेगा, अतएव यह सिद्ध है कि शरीर जीवात्मा नहीं है। इसी प्रकार माताके गर्भमें जीवका कोई नाम न था। लोग कहते थे, बच्चा होनेवाला है। यह भी पता नहीं था कि गर्भमें लड़की है या लड़का। जन्म होनेपर कहा गया कि लड़का हुआ। कुछ समय बाद एक नाम रखा गया। माता-पिताको वह नाम नहीं रुचा, उन्होंने दूसरा सुन्दर नाम रख लिया। बड़े होनेपर वह नाम भी बदल दिया गया; इससे यह सिद्ध हो गया कि नाम भी जीवात्मा नहीं है।

नाम-रूप दोनों ही कल्पित हैं—आरोपित हैं। परंतु जीव इन्हींको अपना स्वरूप समझकर इनकी लाभ-हानिमें अपनी लाभ-हानि समझता है और दिन-रात इन्हींकी सेवामें लगा रहता है। शरीरको आराम मिले, नामका नाम ( कीर्ति ) हो। बस, इसीके पीछे छोटे-बड़े सभी पागल हैं। यह मोह है, अज्ञान है, उन्माद है, माया है। इससे अपनेको छुड़ाइये। अपने स्वरूपको सँभालिये! याद रखिये, जबतक आप इस नाम-रूपको अपना स्वरूप समझे हुए हैं, तभीतक जगत्के सुख-दुःख आपको सताते हैं। जिस दिन, जिस क्षण आप नाम-रूपको मिथ्या प्रकृतिकी चीज मान लेंगे और अपनेको उनसे परे समझ लेंगे, उसी क्षण प्रकृतिजन्य सुख-दुःखसे छूट जायँगे। सारा कार्य प्रकृतिमें हो रहा है, आत्मा निर्लेप है। आत्मा आपका स्वरूप है।

याद रखिये, शरीरके बीमार होनेपर आप बीमार नहीं होते, शरीरके स्वस्थ होनेपर स्वस्थ नहीं होते, शरीरके मोटे होनेपर आप मोटे नहीं होते, शरीरके दुबले हो जानेपर दुबले भी नहीं होते। आप निःसङ्ग हैं, सदा सम हैं; आपके अंदर ये द्वन्द्व हैं ही नहीं। सारे द्वन्द्व प्रकृतिमें हैं। परंतु हाँ, जबतक आप प्रकृतिमें स्थित हैं, तबतक प्रकृतिके सारे विकार आपको अपने अंदर भासते हैं, आप प्रकृतिके रोगोंसे भरे हैं—महान् रोगी हैं, शरीरके मोटे-ताजे और पूर्ण स्वस्थ होते हुए भी सर्वथा अस्वस्थ हैं। आपकी वास्तविक स्वस्थता—'स्व' ( आत्मा )में स्थित होनेमें है। जो आत्मामें स्थित है, वही स्वस्थ है और जो प्रकृतिमें स्थित है, वह अस्वस्थ है।

इसी प्रकार नाम-यश फैलनेमें भी कोई यश नहीं होता, नामकी बदनामीमें आपकी कोई बदनामी नहीं होती। नामके अपमानमें आपका अपमान और नामके सम्मानमें आपका सम्मान नहीं। आप नामसे अलग हैं। परंतु जबतक नामको अपना स्वरूप समझते रहेंगे, तबतक नामकी बदनामीमें महान् दुःख होगा और नामके नाम होनेमें सुख होगा।

अतएव नाम-रूपका मोह छोड़कर—शरीरके आराम और नामके नामकी परवा छोड़कर अपने स्वरूपको सँभालिये। आप सदा मुक्त हैं, बन्धन आपके समीप भी नहीं आ सकता। —श्रीभाईजी

# समदर्शन

## [ संतोंकी दृष्टि ]

( पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाका प्रसाद )

संसारमें विषमता है, प्राणीमें भेद, हर एकके रहन-सहनमें भेद, हर एक वस्तुमें भेद—यानी भेदपूर्ण यह सारी दुनिया है। बिना भेदके कोई वस्तु नहीं। लेकिन इस भेदमें भी संतलोग एक एकता—'अविभक्तं च भूतेषु' ( गीता १३ । १६ ) देखते हैं। यही एकता देखना 'समदर्शन' कहा जाता है। समदर्शनमें भगवान्‌का निवास है। मैं या मेरा यह 'ममता'का मूल है, किंतु 'यह सब कुछ भगवान्‌का है' यही समताका मूल है। यही जन-साधारणकी दृष्टि और संतोंकी दृष्टिमें अन्तर है।

संसारमें जो वस्तु हमें भगवत्कृपासे प्राप्त है, उसे अपना समझना या यह जानना कि वह मेरी वस्तु है, उसीमें अपना स्वार्थ समझना, अपना सुख मानना, दूसरोंके कष्टोंपर ध्यान न देना इत्यादि जो भावनाएँ हैं, यही जनसाधारणकी दृष्टि है, जो ममताका मूल है। ठीक इसके विपरीत यह भावना कि 'संसारकी सभी वस्तुएँ भगवान्‌की हैं, मेरी नहीं, भगवान् जब चाहेगा, उन्हें हमसे छीन लेगा' तथा सांसारिक किसी भी वस्तुमें ममता न होना ही संतकी दृष्टि है।

संत अपनी दृष्टिमें सभी प्राणियोंमें एक आत्माका होना आत्माका एकत्व समझते हैं और यही संतोंके अनुसार यथार्थ ज्ञान है। इसके विपरीत जो देखना या प्राणी-प्राणीमें भेद जानना या समझना या विषमता है, यह अज्ञान है। इसी विषयको स्पष्ट करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
( गीता ५ । १८ )

अर्थात् विद्या और विनयसे सम्पन्न ब्राह्मणमें और एक चाण्डालमें—दोनोंमें तथा गौ, हाथी और कुत्ते—सबमें एक ही आत्मा है, एक ही पिताके पुत्र हैं—ऐसा पण्डित—संत मानते हैं,—यद्यपि समाजमें दोनोंका ही—पण्डित और चण्डाल—सभीका यथायोग्य अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह संसार नाटकका खेल है। इस नाटकमें जिसका अभिनय श्रेष्ठ होता है, लोग उसीकी सराहना करते हैं। उसी प्रकार जो व्यक्ति कर्मकुशल और अपने कार्यमें सावधान है, अपनी जवाबदेही समझता है, वही श्रेष्ठ गिना जाता है।

रामकृष्ण परमहंसके जीवनकी एक घटना है, रामकृष्णने अपनी मातासे पूछा कि 'ब्रह्मदर्शन कैसे होता है?' उनकी माताने कहा कि 'प्राणिमात्रमें समदर्शनसे ही ब्रह्मदर्शन मिल जाता है।' पर इस उत्तरकी महत्ता रामकृष्णने तब समझा, जब उन्होंने रास्तेमें एक बिल्लीको एक छड़ी मार दी और उस बिल्लीके बदनपर निशान हो गया। रामकृष्ण परमहंस जब घर गये और भोजन करने बैठे तो उन्होंने अपनी माकी पीठपर छड़ीका निशान देखा। मासे उन्होंने पूछा कि छड़ीका निशान तुम्हारी पीठपर कैसे हुआ, क्या किसी दुष्टने तुम्हें मारा है? उनकी माने कहा कि सम्भव है, किसीको तुमने ही मारा हो। रामकृष्ण परमहंसने स्वीकार किया कि उन्होंने ही एक बिल्लीको छड़ीसे मारा था। रामकृष्ण परमहंस और उनकी मा तो सिद्ध और पहुँचे हुए संत थे, फिर भी उन लोगोंको तो छड़ीसे मारनेका फल तत्काल अनुभव हुआ, लेकिन जनसाधारण इन कर्मोंकी महत्ताको तत्काल अनुभव नहीं करता।

किसी भी प्राणीके साथ अपना किया हुआ व्यवहार यदि वह निर्दयतापूर्वक हो तो उसका ठीक वैसा ही फल समयपर हमें भी होगा। लेकिन इसकी यथार्थताको

हम लोग नहीं समझते। जिसे यह बात तत्काल लग गयी और जिसने इसकी यथार्थताको समझ लिया, उसकी दृष्टि सम हो गयी। यही समदर्शनका भाव है।

इस समदर्शनका भाव संत कबीरदासके जीवनसे भी झलकता है। कबीरदासजीने, जो जन्मसे ही मुसल्मान (जुलाहे)के घरमें पले थे, अपनेको कभी वैसा नहीं माना। संतोंके अनुसार वे कहा करते थे कि आत्माकी कोई जाति नहीं होती, जाति या जन्म तो इस शरीर-का है। लेकिन संत अपने व्यवहारसे इससे भी ऊपर उठ जाते हैं। वह खास किसी जाति या मजहबके नहीं रह जाते। वे सबको समान, बिना किसी भेदभावके समझते हैं। उनकी दृष्टिमें सभी समान हैं, बराबर हैं। इस बातकी पुष्टि संत कबीरदास इस प्रकार करते थे—'हिंदू लोग अपने मुर्देको जला देते हैं और मुसल्मान लोग अपने मुर्देको दफना देते हैं। दोनों प्रकारके मुर्दे जमीनमें मिलकर राख हो जाते हैं। उसी राख या मिट्टीमें किसान अन्न उपजाता है, जिसे लोग खाते हैं। उसी मिट्टीसे कुम्हार घड़ा बना देता है जिसमें जल रखकर लोग पीते हैं। इसमें कहाँ कोई भेद समझता है।' यही संतोंकी दृष्टि है, जिसमें कोई भेद-भाव नहीं। अपनी इस प्रकारकी दृष्टिसे संत ब्रह्ममें निवास करते हैं और सम्पूर्ण जगत्‌को ब्रह्ममय समझते हैं।

जहाँ ममता है, वहाँ समता नहीं रहती। जिसका हृदय सबके लिये समभावसे खुला रहता है और जो सबके भलेके लिये कर्म करता है, चाहे वह किसी देशका निवासी क्यों न हो, वह सर्वत्र विजय पाता है; वही जीवन्मुक्त माना जाता है। संसारमें विजयी होनेका एकमात्र मार्ग है—सबसे प्रेमभाव रखना और सबके साथ सम व्यवहार करना। सबके साथ समव्यवहार करनेवाला मनुष्य नित्य ब्रह्ममें स्थित रहता है, अतएव जो जिस पदपर नियुक्त है, सबके साथ समताका व्यवहार करे और उसे ही अपना आदर्श माने।

## अभ्यर्थना

(रचयिता—स्वामी श्रीसनातनदेवजी)

मोहन ! मोह न मोहन पावै।
तुव रति-रस में डूबि-डूबि मन तनहूँ की सुधि-बुधि बिसरावै॥
रहै न ईति-भीति कोउ जग की, काहू की ममता न सतावै।
सब कुछ सौंपि तुमहि को प्रीतम ! तुमही में नित नेह दृढ़ावै॥ १॥
तुम सों भयो, तिहारो ही है, अपनो करि काहे गठियावै।
अपने तो तुम ही हो मोहन ! तुव रति में ही मति रम जावै॥ २॥
ह्वै असंग तन मन धन जनसों, सतत तिहारो संग बढ़ावै।
सब सों फिरै, जुरै तुम ही सों, जुरि-जुरि तुव रति ही रह जावै॥ ३॥
तुव रति ही है सुगति-सुमति मम, आन सुगति में मति न भुलावै।
मुक्ति हु सों विमुक्त ह्वै संतत, रतिही में रत होय समावै॥ ४॥

# ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

## ( साधकोंके हृदयका भाव )

साधकको चाहिये कि वह परमात्मापर दृढ़ विश्वास करके उसकी शरण ग्रहणकर अपनी उन्नतिके प्रतिबन्धक कारणोंको निम्नलिखित उपायोंसे दूर करनेकी चेष्टा करे।

( १ ) साधककी धारणामें उसे संसारमें जो सबसे उत्तम सदाचारी, त्यागी, ज्ञानी, महात्मा दीखें, उन्हींके पास जाकर उनके आज्ञानुसार साधनमें तत्परताके साथ लग जाय। उनके वचनोंमें पूर्ण विश्वास रक्खे, उनके समीप जाकर फिर 'किंकर्तव्यविमूढ' न रहे, अपनी बुद्धिको प्रधानता न दे, उनका बतलाया हुआ साधन यदि ठीक समझमें आये तो नम्रतापूर्वक पूछकर अपना समाधान कर ले और साधनमें लगनेपर भी यदि कुछ समयतक प्रत्यक्ष सुखकी प्रतीति न हो तो भी परिणाममें होनेवाले परम हितपर विश्वास करके उनकी आज्ञाका पालन करनेसे कदापि विमुख न हो। श्रीभगवान्ने कहा है—

**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।**
**उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥**

( गीता ४। ३४)

'भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान। वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

( २ ) साधकको यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि मुझे यह साधन किसी दिन छोड़ देना है। उसको यही समझना चाहिये कि यह साधन ही मेरा परम धन, परम कर्तव्य, परम अमृत, परम सुख और मेरे प्राणोंका परम आधार है। जो लोग यह समझते हैं कि परमात्माका ज्ञान होनेके बाद हमें साधनकी क्या आवश्यकता है, वे भूल करते हैं। जिस साधनद्वारा अन्तःकरणको परम शान्ति प्राप्त हुई है, भला, वह उसे क्योंकर छोड़ सकता है ? परमात्माकी प्राप्ति होनेके पश्चात् उस महापुरुषकी स्थिति देखकर तो दुराचारी मनुष्योंकी भी साधनमें प्रवृत्ति हो जाया करती है, जिन्हें देखकर साधनहीन जन भी साधनमें लग जाते हैं, उनकी अपनी तो बात ही कौन-सी है ? इतना होनेपर भी जो पुरुष थोड़ी-सी उन्नतिमें ही अपनेको कृतकृत्य मान लेते हैं, वे बड़ी भूलमें रहते हैं। इस भूलसे साधनमें बड़ा विघ्न होता है। यही भूल साधकका अधःपतन करनेवाली होती है। अतएव इससे सदा बचना चाहिये।

( ३ ) साधकको इस बातका दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि कर्तव्यपरायण, भगवत्-शरणागत पुरुषके लिये कोई भी कार्य दुःसाध्य नहीं है। वह बड़ा-से-बड़ा कार्य भी सहजहीमें कर सकता है। यह शक्ति वास्तवमें प्रत्येक मनुष्यमें है। अपनी शक्तिका अभाव मानना, मानो अपने-आपको नीचे गिराना है। उत्साही पुरुषके लिये कष्टसाध्य कार्य भी सुखसाध्य हो जाता है।

( ४ ) प्रत्येक साधकको अपनी परीक्षा अपने-आप करते रहनी चाहिये। सूक्ष्म दृष्टिसे विचारकर देखनेपर अपने छिपे हुए दोष भी प्रत्यक्ष दीखने लग जाते हैं। साधकको देखना चाहिये कि मेरा मन अपने अधीन, शुद्ध, एकाग्र और विषयोंसे विरक्त हुआ या नहीं। कारण, जबतक मन और इन्द्रियोंपर पूरा अधिकार नहीं हो जाता, तबतक परमात्माकी प्राप्ति बहुत दूर है। भगवान् कहते हैं कि—

**असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।**
**वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥**

( गीता ६। ३६ )

'मनको वशमें न करनेवाले पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है अर्थात् प्राप्त होना कठिन है और स्वाधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधन करनेसे प्राप्त होना सहज है, यह मेरा मत है ।'

अतएव साधकको सबसे पहले मनको अपने अधीन, शुद्ध और एकाग्र बनाना चाहिये*—इसके लिये शास्त्रोंमें प्रधानतः दो उपाय बतलाये गये हैं—

( १ ) अभ्यास और ( २ ) वैराग्य ।

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

**असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।**
**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥**
( गीता ६ । ३५ )

'हे महाबाहो ! निःसंदेह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है, परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! अभ्यास अर्थात् स्थितिके लिये बारंबार यत्न करनेसे और वैराग्यसे ( यह ) वशमें होता है ।' इसी प्रकार पातञ्जल योगदर्शनमें भी कहा है—

**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।**
( योग दर्शन १ । १२ )

'अभ्यास और वैराग्यसे उन ( चित्तवृत्तियों )का निरोध होता है ।'

अभ्यास और वैराग्यकी विस्तृत व्याख्या तो यथाक्रम उक्त ग्रन्थोंमें ही देखनी चाहिये, परंतु भगवान्‌ने अभ्यासका स्वरूप मुख्यतया इस प्रकार बतलाया है—

**यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।**
**ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥**
( गीता ६ । २६ )

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस कारणसे सांसारिक पदार्थोंमें विचरता है उस-उससे रोककर ( बारंबार ) परमात्मामें ही निरोध करे ।' वैराग्यके सम्बन्धमें भगवान्‌ने कहा है—

**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।**
**आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥**
( गीता ५ । २२ )

'जो इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी निःसंदेह दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं, इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।'

इस प्रकार अभ्यास-वैराग्यसे मनको शुद्ध, अपने अधीन, एकाग्र और वैराग्यसम्पन्न बनाकर भगवान्‌के स्वरूपमें निरन्तर अचल-स्थिर कर देनेके लिये ध्यानका साधन करना चाहिये ।

जैसे श्रीभगवान्‌ने कहा है—

**संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।**
**मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥**
**शनैःशनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।**
**आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥**
( गीता ६ । २४-२५ )

'संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषतासे अर्थात् वासना और आसक्तिसहित त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सब ओरसे ही अच्छी तरह वशमें करके क्रम-क्रमसे ( अभ्यास करता हुआ ) उपरामताको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा मनको परमात्मामें स्थितकर परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे ।'

अभ्यास और वैराग्यके प्रभावसे मनके शुद्ध, स्वाधीन, एकाग्र और विरक्त हो जानेपर उसे परमात्माके

* गीताप्रेससे प्रकाशित 'मनको वशमें करनेके कुछ उपाय' नामक पुस्तकमें मनको रोकनेके अनेक उपाय बतलाये गये हैं ।

चिन्तनमें लगाना तो सुगम हो ही जाता है, परंतु उक्त दोनों उपायोंको पूर्णतया काममें न ला करके भी यदि मनुष्य केवल परमात्माकी शरण ग्रहण कर उनके नाम-जप और स्वरूप-चिन्तनमें तत्पर हो जाय तो इस प्रकारके ध्यानसे ही सब कुछ हो सकता है। साधकका मन शीघ्र ही शुद्ध, एकाग्र और उसके अधीन हो जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

महर्षि पतञ्जलिने भी शीघ्रातिशीघ्र समाधि लगनेका उपाय बतलाते हुए कहा है—

**'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'।** (योग० १।२३)

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य तो मनके निरोध करनेके उपाय हैं ही, जो साधक इन उपायोंको जितना अधिक काममें लाता है, उतना ही शीघ्र उसका मन निरुद्ध होता है, परंतु 'ईश्वरप्रणिधान (शरण, प्रणाम) से भी मन बहुत ही शीघ्र समाधिस्थ हो सकता है।'

इससे यह माना जा सकता है कि जप, तप, व्रत, दान, लोकसेवा, सत्सङ्ग और शास्त्रोंका मनन आदि समस्त साधन इसी ध्यानके लिये ही बतलाये और किये जाते हैं।

अतएव सच्चे सुखकी प्राप्तिका साक्षात्, सरल और सबसे सुलभ उपाय परमात्माके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना ही है। इसीको शास्त्रकारोंने ध्यान, स्मरण और निदिध्यासन आदि नामोंसे कहा है। कर्मयोग और सांख्य-योग आदि सभी साधनोंमें परमात्माका ध्यान ही प्रधान है।

साधन-कालमें अधिकारी-भेदसे ध्यानके साधनोंमें भी अनेक भेद होते हैं। सभी मनुष्योंकी रुचि एक प्रकारके साधनमें नहीं हुआ करती। एक ही गन्तव्य स्थानपर पहुँचनेके लिये अनेक मार्ग हुआ करते हैं। इसी प्रकार फलरूपमें एक ही परम वस्तुकी प्राप्ति होनेपर भी साधनके प्रकारोंमें अन्तर रहता है। कोई एकत्वभावसे सच्चिदानन्दघन परमात्माके निराकाररूपका ध्यान करते हैं तो कोई स्वामी-सेवक-भावसे सर्वव्यापी परमेश्वरका चिन्तन करते हैं। कोई भगवान् विश्वरूपका तो कोई चतुर्भुज श्रीविष्णुरूपका, कोई मुरलीमनोहर श्रीकृष्णरूपका तो कोई मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामरूपका और कोई कल्याण-मय श्रीशिवरूपका ध्यान करते हैं।

**ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।**
**एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥**
(गीता ९।१५)

अतएव जिस साधककी परमात्माके जिस रूपमें अधिक प्रीति और श्रद्धा हो, वह निरन्तर उसीका चिन्तन किया करे। परिणाम सबका एक ही है, परिणामके सम्बन्धमें किंचित् भी संशय रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

साधकोंकी प्रायः दो श्रेणियाँ होती हैं—एक अभेदरूपसे अर्थात् एकत्वभावसे परमात्माकी उपासना करनेवालोंकी और दूसरी स्वामी-सेवक-भावसे भक्ति करनेवालोंकी। इनमेंसे अभेदरूपसे उपासना करनेवालोंके लिये तो केवल एक शुद्ध सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें ही निरन्तर एकत्व-भावसे स्थित रहना ध्यानका सर्वोत्तम साधन है। परंतु दूसरे, स्वामी-सेवक-भावसे उपासना करनेवाले भक्तोंके लिये शास्त्रोंमें ध्यानके बहुत प्रकार बतलाये गये हैं।

ध्यान करनेकी पद्धति नहीं जाननेके कारण ध्यान ठीक नहीं होता, साधक चाहता तो है परमात्माका ध्यान करना, परंतु उसके द्वारा ध्यान होता है—जगत्का। यह शिकायत प्रायः देखी और सुनी जाती है, इसलिये परमात्मामें मन जोड़नेकी जो विधियाँ हैं, उन्हें जाननेकी बड़ी आवश्यकता है। शास्त्रकारोंने अनेक प्रकारसे ध्यानकी विधियोंको बतलानेकी चेष्टा की है। यहाँ संक्षेप-में वर्णन किया जाता है। यों तो परमात्माका चिन्तन निरन्तर उठते-बैठते, चलते, खाते-पीते, सोते, बोलते

और सब तरहके काम करते हुए हर समय ही करना चाहिये, परंतु साधक खास तौरपर जब ध्यानके निमित्तसे बैठे, उस समय तो गौणरूपसे भी उसे अपने अन्तःकरणमें सांसारिक संकल्पोंको नहीं उठने देना चाहिये। उसे एकान्त और शुद्ध देशमें बैठकर ध्यानका साधन आरम्भ कर देना चाहिये। श्रीगीताजीमें कहा है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये॥
(६। ११-१२)

'शुद्ध भूमिमें कुशाके ऊपर मृगचर्म और उसके ऊपर वस्त्रका आसन रख, जो न अति ऊँचा और न अति नीचा हो, उसपर स्थिर बैठकर मनको एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें किये हुए अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे।'

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
(गीता ६। १३)

'काया, सिर और ग्रीवाको समान और अचल धारण किये हुए दृढ़ होकर अपनी नासिकाके अग्रभागको देखकर* अन्य दिशाओंको न देखता हुआ परमेश्वरका ध्यान करे।'

ध्यान करनेवाले साधकको यह बात विशेषरूपसे जान रखनी चाहिये कि जबतक अपने शरीरका और संसारका ज्ञान रहे, तबतक ध्यानके साथ नाम-जपका अभ्यास अवश्य करता रहे। नाम-जपका सहारा नहीं रहनेपर बहुत समयतक नामीके स्वरूपमें मन नहीं ठहरता। निद्रा, आलस्य और अन्यान्य सांसारिक स्फुरणाएँ विघ्नरूपसे आकर मनको घेर लेती हैं। नामीको याद दिलानेका प्रधान आधार नाम ही है। नाम नामीके रूपको कभी भूलने नहीं देता। नामसे ध्यानमें पूर्ण सहायता मिलती है। अतएव ध्यान करते समय जब-तक ध्येयमें सम्पूर्णरूपसे तल्लीनता न हो जाय, तबतक नाम-जप कभी न छोड़ना चाहिये।

## चित्तकी एकाग्रता

चित्तको एकाग्र करनेके लिये तालियाँ बजाकर हरिका नाम जोर-जोर-से लो। जिस प्रकार वृक्षके नीचे तालियाँ बजानेसे उसपर बैठे हुए पक्षी इधर-उधर उड़ जाते हैं, उसी प्रकार तालियाँ बजा-बजाकर हरि-(ईश्वर-)का नाम लेनेसे कुत्सित विचार मनसे भाग जाते हैं।

* * *

जब हाथी खुल जाता है, तब वह वृक्षों और झाड़ियोंको उखाड़कर फेंक देता है; लेकिन महावत जब उसके मस्तकपर अङ्कुश मार देता है, तब वह तुरंत ही शान्त हो जाता है। यही हाल अनियन्त्रित मनका है। जब आप उसे स्वच्छन्द छोड़ देते हैं, तब वह आमोद-प्रमोदके निःसार विचारोंमें दौड़ने लगता है, लेकिन विवेकरूपी अङ्कुशको मारसे जब आप उसे रोकते हैं, तब वह शान्त हो जाता है।

—श्रीरामकृष्ण परमहंस

* इसमें दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखनेके लिये कहा गया है, परंतु जिन लोगोंको आँखें बंद करके ध्यान करनेका अभ्यास हो, वे आँखें बंद करके भी कर सकते हैं, इसमें कोई हानि नहीं है।

# पञ्चामृत

## [ शास्त्र-सुधा-सार ]

'शास्त्रं हि वत्सलतरं मातृपितृसहस्रशः'

मनुष्यो ! प्राणोंपर आश्रित सभी नश्वर शरीरादिके नष्ट हो जानेपर शोक मत करो। यत्नपूर्वक धर्माचरणमें लगे रहो। वही अनुष्ठित ( किया हुआ ) धर्म तुम्हारे साथ जायगा। ( कात्या० कर्मप्रदीप २२।४ )

* * * *

दयालु गृहस्थको सदा धर्म-( तत्त्व-)का ही चिन्तन करना चाहिये। वह बुद्धिमान् अपने पोष्य-वर्ग ( परिवार और नौकर आदि )के पालनके योग्य लोगोंके प्रयोजनों और आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये न्यायानुसार व्यवहार करे। ( पराशर स्मृ० १२। ४२ )

* * * *

निश्चय ही सभी मनुष्य सुख चाहते हैं, किंतु वह सुख धर्म ( धर्मकार्य-यज्ञादि )से उत्पन्न होता है। अतः सभी वर्णोंको चाहिये कि वे प्रयत्नपूर्वक धर्मका अनुष्ठान करें। ( दक्षस्मृति ३। २५ )

* * * *

ब्राह्ममुहूर्त ( रात्रिके पिछले पहर )में उठकर अपने हित और अहित ( कर्तव्य और अकर्तव्य ) का चिन्तन करना चाहिये। धर्म, अर्थ और कामका उचित समयपर, जहाँतक हो सके, त्याग नहीं करना चाहिये। ( इनमें भी धर्मकी अनुकूलताका ध्यान सर्वत्र रखे। ) ( याज्ञवल्क्य०स्मृ० आचारकाण्ड ११५ )

* * * *

जिस कार्यसे प्राणोंपर संकट आ पड़े, उसे न करे। सहसा अप्रिय वचन न बोले। जो हितकारी न हो तथा जो झूठा हो, ऐसे वचन भी न बोले, चोर न बने और ब्याजसे धन न उगाहे; आजीविका न चलाये। ( याज्ञवल्क्यस्मृति, आचारकाण्ड १३२ )

* * * *

जो दुस्तर है, जो अत्यन्त कठिनाईसे प्राप्त होने योग्य है, जो अत्यन्त दुर्गम है, जो दुःखसे किया जाता है, वे सभी तपस्यासे सिद्ध हो सकते हैं, क्योंकि तपस्याकी शक्ति सर्वथा अलङ्घ्य है।

( मनु० स्मृ० ११। २३८ )

* * * *

कुलकी रक्षाके लिये एक व्यक्तिकी, गाँवके लिये कुल ( कुटुम्ब ) और पूरे लोक-समूह ( राष्ट्र )के लिये गाँवका एवं आत्माके लिये पृथ्वीतकका त्याग कर दे।

( महाभा० आदि० ११५। ३६, सभा० ६१। ११ )

* * * *

भेंट होनेपर अभिवादन किये जानेपर ब्राह्मणसे कुशल, क्षत्रियसे नीरोगता; स्वास्थ्य, वैश्यसे क्षेम और शूद्रसे आरोग्यका समाचार पूछना चाहिये। ( मनु० स्मृ० २। १२७ )

* * * *

प्रतिदिन स्नानकर पवित्र हो देव, ऋषि और पितरोंका तर्पण तथा देवताओंका पूजन और होम करना चाहिये। ( मनु० स्मृ० २। १७६ )

# निष्काम कर्म

( लेखक—डा० विद्याधरजी घस्माना, एम्० ए०, एम्० ओ० एल्, पी-एच्० डी० )

निष्काम और कर्म इन दो शब्दोंमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि कामना ही कर्मकी जननी सिद्ध होती है। हृदयमें वर्तमान कामनाकी प्रेरणासे ही इन्द्रियोंकी अपने विषयोंमें प्रवृत्ति और शरीरकी चेष्टाएँ संभव होती हैं। स्वयं विराट् विश्वके रचयिता ईश्वरने सर्वप्रथम कामना की और तब उसीकी प्रेरणासे इस विश्वकी उत्पत्ति हुई—

**सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति।'**
( तैत्तिरी० उप० २। ६। १ )

'उस परमात्माने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ।' अतः किसी भी कर्ताकी कामनाके बिना कर्ममें प्रवृत्ति नहीं हो सकती और यही विरोधकी प्रतीति है। किंतु जब वही कामना सात्त्विकरूपमें परिवर्तित होकर निष्कामता, आप्त-कामता अथवा पूर्णकामताकी परिधिमें समाविष्ट हो जाती है, तब उक्त विरोधका स्वयं ही परिहार भी हो जाता है। श्रुतिका निर्देश है—

**योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्नोति।**
( बृहदारण्यकोप० ४। ४। ६ )

'जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम, अथवा आत्मकाम होता है, उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता; वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

## कर्मकी शक्ति

ईश्वरकी शक्ति माया अथवा प्रकृतिके बाह्य पक्ष हैं इस जगत्के रूप और नाम, तो आन्तरिक पक्ष है कर्म। इसीलिये कर्मकी उत्पत्ति साक्षात् ब्रह्मसे ही हुई। जिस प्रकार समुद्रमन्थनके अवसरपर भगवान्ने कच्छपस्वरूपसे मन्दराचलको अपनी पीठपर धारण किया, उसी प्रकार अव्यक्त ब्रह्मने अपनी कर्म-शक्तिकी भित्तिपर ही इस स्थूल ब्रह्माण्डका निर्माण किया, जिसमें सूर्य और चन्द्रमासे प्रकाशित, दिशाओंसे आवेष्टित और नीलाकाशसे आवृत इस ब्रह्माण्ड-कटाहका अन्तराल विस्तृत कर्मक्षेत्र बना हुआ है। इसमें रहनेवाला कोई भी मनुष्य बिना कर्म किये नहीं रह सकता—

**न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।**
( श्रीमद्भगवद्गीता ३। ५ )

'कोई भी मनुष्य एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता।' मानव ही नहीं, इस जगत्के विशिष्ट देव भी सृष्टि आदि कर्मके अनुष्ठानमें संलग्न हैं—

**आदावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे**
**विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः।**
**रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य**
**इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु॥**
( श्रीमद्भागवत ११। ४। ५ )

'वह ईश्वर अपने ही रजोगुणका आश्रय करके ब्रह्माके रूपमें इस जगत्की उत्पत्तिमें, सद्गुणका आश्रय करके विष्णुके रूपमें इसकी रक्षामें और तमोगुणका आश्रय करके रुद्रके रूपमें इसके संहारमें संलग्न हैं। इसीसे जगत्में सदा जन्म, स्थिति और नाश होते रहते हैं।' सूर्य अपनी किरणोंसे कभी जलका आदान करता है और कभी प्रदान। चन्द्रमा अपनी ज्योत्स्नासे एक तरफसे संतप्त पृथ्वीको शान्त करता है और दूसरी ओर शान्त समुद्रको क्षुब्ध करनेमें व्यग्र रहता है। इस पृथिवीके भाग्य-विधाता आकाशके नक्षत्र और ग्रह भी कर्मकी प्रेरणासे ध्रुवकी परिक्रमामें व्यस्त हैं। यह तो कर्मलोक ही ठहरा। इसमें कौन निष्क्रिय रह सकता है? कविवर जयशंकर प्रसादने लिखा है—

**कर्मचक्र-सा घूम रहा है, यह गोलक बन नियति प्रेरणा;**
**सबके पीछे लगी हुई है, कोई व्याकुल नई एषणा।**
**श्रममय कोलाहल पीडन लय, विकल प्रवर्तन महायंत्र का;**
**क्षणभर भी विश्राम नहीं है, प्राणदास है क्रिया तंत्र का ॥**
( —कामायनी )

कर्मके तीन भेद हैं—

( १ ) प्रारब्ध, ( २ ) संचित और ( ३ ) क्रियमाण

**जन्मजन्मान्तरकृतं प्रारब्धमिति कीर्तितम् ।**
( अपरोक्षानुभूति ९२ )

'पूर्वजन्मोंमें कृतकर्म ही प्रारब्ध कर्म कहलाते हैं ।' उन्हींके परिणाममें मनुष्योंके जन्म, आयु और भोग निश्चित होते हैं । इस वसुंधरामें पग-पगपर खजाने छिपे हैं और प्रत्येक योजनपर रसभरे कूप हैं । किंतु उन्हें वे ही देख सकते हैं, जिनके प्रारब्ध कर्मोंकी शक्ति होती है । एक ही दम्पतिके दो पुत्र भिन्न-भिन्न स्वभावके प्रारब्ध कर्मोंके कारण ही होते हैं, एक बुद्धिमान् और दूसरा मूर्ख, एक दयालु और दूसरा क्रूर, एक वैभवशाली और दूसरा अकिंचन, एक प्रत्येक परिस्थितिमें सफल और दूसरा पग-पगमें ठोकर खानेवाला । उन्हीं प्रारब्ध कर्मोंसे होते हैं, प्रज्ञाचक्षु सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास जैसे लोग, जिन्होंने मुक्त कण्ठसे प्रारब्धके महत्त्वका गान इस प्रकार किया है—

**लहनी करम के पाछे,**
**दियो अपनो लहै सोइ मिलै नहिं बांछे ।**
( सूरसागर २४५० )

**करम प्रधान बिस्व करि राखा । जो जस करइ सो तस फल चाखा॥**
( रामच० मा० २ । २१८ । २ )

चाहे ज्ञानी, ध्यानी, महान् भक्त ही क्यों न हो, किंतु प्रारब्धका उल्लङ्घन कोई भी नहीं कर सकता; उसका फल अवश्य भोगना होता है । श्रुति प्रमाणित करती है कि सत्के ज्ञानीके लिये भी मोक्ष-प्राप्तिमें देहका बन्धन विलम्बका कारण सिद्ध होता है—

**तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये ।**
( छा० उ० ६ । १४ । २ )

'उसके लिये मोक्ष होनेमें उतना ही विलम्ब है, जबतक कि वह देह-बन्धनसे मुक्त नहीं होता ।' शरीर प्रारब्धपर आश्रित होता है और प्रारब्ध कर्मोंको भोग करके ही मिटाया जा सकता है । आचार्य शंकरने 'अनारब्धकार्ये' इत्यादि वेदान्त सूत्रकी व्याख्या स्पष्ट करते हुए लिखा है—

**'संचिते सुकृतदुष्कृते ज्ञानाधिगमात् क्षीयेते न त्वारब्धकार्ये सामिभुक्तफले, याभ्यामेतद् ब्रह्मज्ञानायतनं जन्म निर्मितम् ।'**
( ब्रह्मसू० ४ । १ । १५ पर शांकरभाष्य )

'पूर्व-संचित पुण्य और पाप ज्ञानकी प्राप्तिसे क्षीण होते हैं, परंतु आरब्ध कार्य जिनका आधाफल उपभुक्त हो गया है और जिनसे ब्रह्मज्ञान प्राप्तिका अधिष्ठान यह जन्म प्राप्त हुआ है, वे क्षीण नहीं होते ।'

## संचित-कर्म

अनेक जन्मोंसे संचित, जिनका भोग अभी प्रारम्भ नहीं हुआ—ऐसे ही कर्म संचित कहे जाते हैं । संचित-कर्म प्रारब्ध-कर्मोंकी भाँति बलिष्ठ नहीं होते । उन्हें भोगके बिना भी मिटाया जा सकता है । जिस प्रकार अग्निमें संतप्त सुवर्ण और लोहा मैल तथा जंगको त्याग देते हैं, उसी प्रकार ज्ञान-प्राप्तिसे संचित पाप और पुण्य भी नष्ट हो जाते हैं—

**'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः'**
( ब्रह्मसू० ४ । १ । १५ )

'जिनका फल अभी आरब्ध नहीं है, ऐसे संचित पुण्य और पाप ज्ञानसे नष्ट हो जाते हैं ।'

**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।**
( मुण्डकोप० २ । २ । ८ )

'उस परमात्माके साक्षात्कार होनेपर कर्म क्षीण हो जाते हैं ।'

यस्मिन्मनो लब्धपदं यदेत-
च्छनैः शनैर्मुञ्चति कर्मरेणून् ।
( श्रीमद्भा० ११ । ९ । १२ )

'ध्यानमें अवस्थित मन कर्ममयी वासनाको शनैः-शनैः त्याग देता है ।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि संचित कर्मोंका ज्ञान तथा ध्यानसे नाश हो जाता है ।

## क्रियमाण-कर्म

वर्तमान शरीरमें जो कर्म किये जानेवाले हैं, वे ही क्रियमाण कर्म कहलाते हैं । यदि मनुष्य फलकी आसक्तिसे कर्म करता है तो वे ही कर्म उसके भावी शरीरोंके लिये प्रारब्ध और संचित सिद्ध हो जाते हैं तथा जीव कर्मोंकी धारामें बहता हुआ जन्म और मृत्युका चक्कर काटता है—

नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशु ते ।
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम् ॥
( पञ्चदशी १ । ३० )

'जिस प्रकार नदीके प्रवाहमें कीट एक आवर्तसे दूसरे आवर्तमें प्रवाहित होते रहते हैं, उसी प्रकार जीव कर्मोंके अधीन होकर एक जन्मसे दूसरे जन्मको प्राप्त करते रहते हैं ।' श्रुतिका भी निर्देश है —

स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति,
तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते ।
( बृ० उ० ४ । ४ । ५ )

'मनुष्य जैसी कामनावाला होता है, वैसा ही संकल्प करता है । जैसे संकल्पवाला होता है, वैसा ही कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है ।'

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ।··· कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् ॥ ( छान्दोग्योप० ५ । १० । ७ )

'उत्तम आचरणवाले उत्तम योनिको प्राप्त करते हैं—जब कि अशुभ आचरणवाले अशुभ योनिको प्राप्त करते हैं ।'

## क्रियमाण कर्मकी विविधता

क्रियमाण कर्म प्रायः ४ प्रकारके हैं–( १ ) नित्य, ( २ ) नैमित्तिक, ( ३ ) निषिद्ध और ( ४ ) काम्य । इनमें भी स्नान, दोनों कालकी संध्याएँ, वर्ण तथा आश्रमके निर्दिष्ट कर्मोंके अनुष्ठान नित्य कर्म है, जिन्हें प्रभाकर तथा कुमारिल दोनों ही मीमांसकोंने सदा अनुष्ठेय माने हैं । किसी दोष अथवा विघ्नकी शान्तिके लिये जिस कर्मका विधान होता है, वह नैमित्तिक कहलाता है । शास्त्र तथा आप्तोपदेशसे त्याज्य कर्म निषिद्ध कर्म माने गये हैं; यथा—चौर्य्य ( चोरी ) आदि ।

## काम्यकर्म

काम्यकर्म मुख्यतया ३ हैं, जो निम्नलिखित हैं—

इष्ट—अग्निहोत्र, तप, सत्य, वेदका संरक्षण, अतिथि-सत्कार और वैश्वदेव-कर्म,

पूर्त—बावड़ी, कुआँ, तालाब, देवालय और बाग-बगीचोंका लगवाना तथा अन्नदान करना,

दत्त—शरणागतकी रक्षा, प्राणियोंकी रक्षा तथा यज्ञ-वेदीसे बाहर दान देना ।

( द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्र १—१—४ शांकरभाष्यपर 'रत्नप्रभा')

यद्यपि मीमांसक स्वर्ग-प्राप्तिके लिये ही दर्श, पौर्णमास आदि यज्ञ करते आये—

दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत ।

'स्वर्गकी कामना करनेवाला मनुष्य दर्श और पूर्णमास यज्ञ करे,' तथापि मीमांसकोंमें भी कुछ ऐसे मनीषी हुए, जिन्होंने शुभकर्मोंकी फल-भावनाके त्यागके लिये सविशेष प्रेरणा की । सुरेश्वराचार्यने कर्मवादी मीमांसकोंके लिये मोक्षकी सरणी इस प्रकार निश्चित की है—

अकुर्वतः क्रिया काम्या निषिद्धांस्त्यजतस्तथा ।···
काम्यकर्मफलं तस्माद् देवादीमं न ढौकते ।
( नैष्कर्म्यसिद्धि १ । १०-११ )

'चोरी आदि निषिद्ध कर्मोंसे सर्वथा दूर रहनेसे

तथा जप-तप-यज्ञमें उद्धृत आदि शुभ कर्मोंके फलके त्याग देनेसे जीवात्मा कर्माधीन होकर नहीं विचरता, प्रत्युत मुक्त हो जाता है; 'क्योंकि नित्य और नैमित्तिक कर्मोंके करनेसे कुछ भी फलकी प्राप्ति नहीं होती।'

### निष्काम-कर्म

कर्मसे जब फलकी भावना पृथक् हो जाती है तो वह निर्मल और उज्ज्वल हो जाता है, किंतु विषसे सर्पकी भाँति फलकी भावनासे कर्म भयंकर बन जाता है, इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने फलकी भावनाके त्यागके लिये विशेष आग्रह किया, फलकी भावनाका सर्वथा त्याग कृष्णार्पणकी भावनासे ही हो सकता है; वास्तवमें कर्मकी शुद्धि भक्ति और ज्ञानसे ही होती है, भक्तिसे उसमें कृष्णार्पणकी भावना पनपती है और ज्ञानसे वह कर्तव्यमें प्रतिफलित होता है, अतः उससे फलासक्तिके निवारणके लिये भक्ति और ज्ञान दोनों ही अपेक्षित होते हैं, यही निष्काम कर्म अथवा कर्मयोग है।

इस प्रसङ्गमें यह भी ज्ञातव्य है कि श्रीमद्भगवद्गीतामें जिस निष्काम कर्मके करनेकी प्रेरणा की गयी है, वही साथ ही उसकी फलवत्ता भी अवश्य अपेक्षित है। स्थितप्रज्ञा, सर्वभूतहितैणा, आमौपम्य भाव और निर्वाणकी प्राप्तिमें ही वहाँ निष्काम कर्मका पर्यवसान अभिलषित है—

**आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।**
(श्रीमद्भगवद्गीता २। ५५)

**छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥**
(श्रीमद्भ० गी० ५। २५)

**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।**
(श्रीमद्भ० गी० ६। ३२)

**लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।**
(श्रीमद्भ० गी० ५। २५)

संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि क्षुद्र कामनाओंके त्यागसे कर्मयोगीके हृदयकी सीमित परिधि मिट जाती है, जिसमें वह ससीम होकर भी निःसीमकी ओर उन्मुख हो जाता है, यही निष्काम-कर्म करनेकी प्रेरणाका रहस्य है।

फलकी इच्छासे रहित केवल कर्त्तव्य बुद्धिसे किया गया कर्म निष्काम कर्म कहलाता है, ऐसा कर्म बन्धन-कारक नहीं होता। बन्धन ही कर्मका दोष है, उसी बन्धनसे संसारचक्रमें जीव आबद्ध होता है। जीवन-मुक्तिके लिये यह सुगम कर्म-पथ है। इसमें आरम्भमें कठिनता होती है, पर अभ्याससे और भगवदर्पण-बुद्धिसे कर्म करते जानेपर नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसका मूल बीज है—**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** (गी०२।४७) को तत्त्वतः हृदयंगम करना।

## जहाँ काम तहँ राम नहिं

**जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।**
**दोनों कबहूँ ना मिले, रवि रजनी इक ठाम॥**
**काम क्रोध मद लोभ की, जब लगि घट मैं खान।**
**कहा मूरख कहा पंडिता, दोनों एक समान॥**
**जब मन लागा लोभसे, गया विषयमें मोय।**
**कहै कबीर विचारि कै, कस भक्ती धन होय॥**
**विद्यामद अरु गुनहुँ मद, राजमद्द उनमद्द।**
**इतने मद कौं रद करै, तब पावै अनहद्द॥**

—संत कबीरदासजी

# मानसमें पूर्वराग

( लेखक—पं० श्रीदादूरामजी शर्मा, एम्० ए० )

[ गताङ्क वर्ष ५१, सं० ३, पृष्ठ-सं० ८९से आगे ]

इधर पुष्पवाटिका-स्थित गिरिजा-मन्दिरमें गौरी-पूजनके लिये सीता सखियोंके साथ आयी हुई हैं, उसी समय राम-लक्ष्मण भी पूजनके लिये पुष्प लेने वहाँ आ जाते हैं। वाटिकाकी सुन्दरता निहारनेमें मग्न एक सखी अपनी सहेलियोंसे बिछुड़ जाती है। उसकी दृष्टि पड़ती है—राम-लक्ष्मणके अलौकिक सौन्दर्य-पर। वह सखियोंसे मिलती है, उसके अङ्ग-अङ्ग हर्षातिरेकसे पुलकित हो रहे हैं, आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही है, किंतु वह उस अदृष्टपूर्व सौन्दर्यका वर्णन कैसे करे? वाणीने तो उस मनोहरताको देखा नहीं; क्योंकि उसके पास देखनेकी शक्ति कहाँ है! और नेत्रोंने उसे देखा तो है, किंतु काश! उनमें वाणीका गुण होता—दृष्टि-सौन्दर्यके वर्णनकी क्षमता होती। वह बोली—

स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

( श्रीरामच० मा० १। २२८। १ )

—और सीताजीके नयन अपने पुरातन प्राणधनकी रूप-माधुरीका पान करनेके लिये आकुल हो उठे—

चकित बिलोकति सकल दिसि, जनु सिसु मृगी सभीत।

( रामच० मा० १। २२९ )

यहाँ सीताके लिये 'सभीत' मृगनैनीकी उपमा कितनी सटीक है! यह कविकी प्रकृति-पर्यवेक्षिणी सूक्ष्म दृष्टिकी परिचायिका है। मृगीके नेत्र चञ्चल होते हैं और मृगशाविकाके और भी चञ्चल, क्योंकि उसकी दृष्टि शैशवके कारण कहीं जम नहीं पाती, उसपर यदि वह डरी हुई हो तो उसकी चञ्चलताका फिर क्या कहना! यहाँ सीताकी दृष्टिमें रामको देखनेकी आतुरता है। लता-बिटप बार-बार उनके दृष्टि-पथमें व्यवधान पैदा करते हैं। उनकी दृष्टि इन अवरोधोंमें अटकती तो है किंतु टिक नहीं पाती। टिके भी तो कैसे? जिस लावण्यको वह खोज रही है, वह उसे मिले तब न; इसलिये उनकी दृष्टिमें अत्यधिक चञ्चलता है। नेत्र ही नहीं उनका मन भी आकुल है, उत्कण्ठित हो रहा है। यहाँ 'चकित' आतुरता या उत्कण्ठाको ध्वनित करता है। इसका अर्थ विस्मित भी हो सकता है। विस्मय अदृष्ट वस्तुके दर्शनसे ही नहीं होता, अश्रुत वस्तुके श्रवणसे भी होता है। कैसा होगा वह सौन्दर्य, जिसके वर्णनमें सखीकी वाक्-शक्ति कुण्ठित हो गयी! वह कहती है कि नेत्र उस रूपसुधाका पान तो कर सकते हैं, पर कह नहीं सकते—'गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥' ( रा० च० १। २२९। १ ) 'बार-बार लताविटपोंमें अटकती-भटकती हुई सीताकी दृष्टि जब उस सौन्दर्य-निधिको नहीं खोज पाती तो उनकी आतुरता—आकुलता भयमें बदल जाती है—कहीं वे चले न गये हों, मेरी आँखें प्यासी-की-प्यासी न रह जायँ! हृदय और प्राणोंको मैं उन्हें बिना देखे कैसे जुड़ा सकूँगी! इनकी आतुरता, उत्कण्ठा और छटपटाहट कैसे शान्त हो सकेगी?' कैशौर्यके पूर्वरागकी कैसी सफल अभिव्यञ्जना है! किशोर-मनकी स्थितिका कैसा सजीव चित्रण है!! मृगीके पूर्व 'शिशु' विशेषणका प्रयोग करके कविने इस आकुलता और उत्कण्ठामें पवित्रताका सहज संनिवेश कर दिया है। साधारण जन-सुलभ वासनाका वहाँ प्रवेश कहाँ?

इधर श्रीरामके श्रवणपुटोंमें भी श्रीसीताके 'कङ्कण, किङ्किणी और नूपुरोंकी मधुर ध्वनि भर गयी। उन्हें लगा कि मनमें विश्वविजयका संकल्प करके कामदेवने ही तो यह विजयदुन्दुभी नहीं बजा दी? उन्होंने ध्वनिकी दिशामें देखा तो बस देखते-ही रह गये!

सीताके सौन्दर्य-दर्शनसे उन्हें जो सुखानुभूति हुई, उसकी अभिव्यक्तिकी शक्ति किसीके शब्दोंमें कहाँ ! हृदय ही उस अनिर्वचनीय अनुपम सौन्दर्यको देख सकता है। काश ! उस अनुभूतिको वाणी अभिव्यक्त कर पाती !! लगता है, मानो सृष्टि-रचयिताने अपना सम्पूर्ण सौन्दर्य-कौशल विश्वके समक्ष साकार कर दिया हो। सीता मानो विश्वमें यत्र-तत्र बिखरे सौन्दर्यकी एकत्रित राशि ही हैं—

जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि दिखाई॥
( रामचरितमानस १ । २२९ । ३ )

वे मूर्तिमती सुन्दरताको भी अलंकृत कर रही थीं। वे छवि-गृहको दीपशिखाकी तरह आलोकित कर रही हैं। श्रीसीताकी उत्पत्तिके पूर्व सौन्दर्यका कोई मापदण्डका निश्चित आदर्श प्रतिष्ठापित नहीं हो पाया था, रुचिके अनुसार सौन्दर्यका मनमाना आकलन हो रहा था। कोई किसी वस्तुको सुन्दर बता रहा था तो दूसरा उसे असुन्दर कह रहा था, तीसरेकी दृष्टिमें वह सौन्दर्य अधूरा था। सीताके प्रादुर्भावने सम्पूर्ण सौन्दर्यका दीपक जलाकर सबके भ्रमका निराकरण करके सुन्दरताको आलोकित करा दिया और सौन्दर्यकी सीमा-रेखा खींच दी—

सुंदरता कहुँ सुंदर करई। छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई॥
( रामचरितमानस १ । २२९ । ३½ )

सीताके उस अनुपम अनिर्वचनीय अलौकिक सौन्दर्यने श्रीरामके मनको मोह लिया। किशोरावस्थामें नारी-सौन्दर्यके प्रति सहज आकर्षणकी मनोवैज्ञानिक सफल अभिव्यञ्जनामें कविको अद्भुत सफलता मिली है। श्रीराम अपनी सुध-बुध खो बैठे, उनका हृदय परवश हो गया। मनोदशा और हृदयकी तीव्र अनुभूतिका चेष्टाओंपर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है, पर वे किशोरावस्थासे यौवनमें प्रवेश करनेके पूर्व ही लोहे-ताँबे उतर चुकनेवाले आधुनिक मनचले किशोर तो थे नहीं। वे थे संस्कारित आचार-विचारवाले, संयत मन और इन्द्रियोंवाले मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम तथा साथमें थे, उनके छोटे भाई श्रीलक्ष्मण। कहीं अनुज लक्ष्मणके मनपर उनके इस सीता-दर्शनजन्य मनोविकारका गलत प्रभाव न पड़े, इसलिये उन्होंने अपनी मनःस्थितिको उनसे स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त कर दिया—'भइया ! ये ही वे जनकराजकी पुत्री हैं, जिनके लिये धनुष-यज्ञ हो रहा है, जिनकी अलौकिक सुन्दरताको देखकर मेरा स्वभावतः पवित्र, प्रकृत्या संयत मन चञ्चल हो उठा है, हृदय उत्कण्ठित हो रहा है'—

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥
( रामच० मा० १ । २३० । २ )

यहाँ 'छोभा'का अर्थ वासनाजन्य मनोविकार नहीं, वह किशोरहृदयमें होनेवाले प्रथम प्रेमके अङ्कुरणसे उत्पन्न स्फुरण और उत्कण्ठाको ध्वनित करता है।

श्रीराम आगे स्पष्ट करते हैं—

मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी॥
( रामच० मा० १ । २३० । ३ )

'मुझे अपने उस मनपर पूरा विश्वास है, जिसने कभी परस्त्रीका चिन्तन नहीं किया; जिसने कभी अपने हृदय-पटलपर परस्त्रीकी छवि अङ्कित नहीं की।'

श्रीरामके ये शब्द जहाँ एक ओर उनके संयत, मर्यादित; अति पवित्र मन और मनोहर हृदयकी झाँकी प्रस्तुत करते हैं, वहीं दूसरी ओर वे उनकी दुराव-छिपाव-रहित निष्कपट सरलता और 'जन्मान्तरीय' सौहृदको भी व्यञ्जित करते हैं—

सो सबु कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता॥
( रामच० मा० १ । २३० । २ )

सीताके भटकते-अटकते नेत्रोंने भी आखिर खोज ही लिया, उस विश्वनिधिको। ( लताओंकी ओट )से ही उसे देखकर वे कृतार्थ हो गये, मानो उन्हें अपना चिर-अन्वेष्य सौन्दर्य मिल गया हो। वे टकटकी लगाकर उस रूपरूपी अमृतका पान करने लगे। रागातिरेकसे

१—तुलना कीजिये—सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ( अभिज्ञानशाकुन्तल १ । २४ )

सीताके अङ्ग-अङ्ग शिथिल हो गये। शरद् पूर्णिमाके प्रतीक्षित चन्द्रमाको जैसे चकोरी टकटकी लगाकर देखती रहती है, वैसे ही सीताजी भी श्रीरामको देखती रह गयीं—

**अधिक सनेहँ देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥**
(रामच० मा० १। २३१। ३)

सीताकी चेष्टा स्वाभाविक थी, किशोर मनके अनुकूल भी थी; किंतु सखियोंके बीच एक किशोरीका किसी किशोरको इस तरह देखना कन्याजनोचित लज्जा और शालीनता तथा सामाजिक मर्यादाके विरुद्ध है—इसका ध्यान आते ही सीताने रामकी उस अनुपम छविको नेत्रोंके मार्गसे हृदय-पटलपर अङ्कित कर लिया। अब अपने भावी प्राणधनका चिन्तन, सतत सौन्दर्य-दर्शन उनके लिये अबाध था। अब कौन उनपर निर्लज्जताका, शालीनता और सामाजिक मर्यादाके उल्लङ्घनका दोषारोपण कर सकता था? समयोचित लज्जाजन्य झिझक भी उन्हें अब रामको देखनेसे नहीं रोक सकती थी; क्योंकि वे आँखोंके रास्ते हृदयमें जो आ गये थे। किंतु वे 'जिस मार्गसे आये हैं, कहीं उसी मार्गसे वापस न हो जायँ'—ऐसा सोचकर अथवा'हृदयमें प्रियतमका एकान्त दर्शन तो अपने नेत्रोंको प्रकृतिके बाह्य उपादानोंके दर्शनसे विरत और संवृत करके ही किया जा सकता है'—उन्होंने अपने नेत्रोंके किवाड़ बंद कर लिये—

**लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी॥**
(रामच० मा० १। २३१। ३½)

सीताकी उक्त चेष्टाएँ कितनी स्वाभाविक, कितनी मधुर, कितनी पवित्र और कितनी मर्यादित हैं! रामके प्रति सीताकी प्रेम-विह्वलताको अनुभवी सखियाँ ताड़ गयीं, किंतु वे क्या कहें; उनका मन संकोचसे भर गया। एक ओर सीताकी प्रेमविह्वल दशा और उन सबका स्त्रीसुलभ संकोच और दूसरी ओर कठिन प्रतिज्ञा। काश! सीता स्वयंवरा होतीं, उन्हें अपने लिये मनोनुकूल पतिके चुनावका अधिकार होता! तब तो सखियाँ कह देतीं—'राजपुत्रि! धीरज रखें, हम आपके पिताजीको निश्चयसे अवगत कराकर इन श्रीरामसे ही आपका विवाह-प्रबन्ध करा देंगी।' किंतु यहाँ सीता-का वैराग्य तो मानो एक विडम्बना थी। यदि श्रीराम धनुष न तोड़ पाये या उनके पूर्व ही किसी दूसरेने धनुष तोड़ डाला तो? सीताका यह पूर्वराग उन्हें अनुचित और अनवसरका प्रतीत हुआ। किंतु प्रेम तो एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। उसका माता-पिताकी स्वीकृति या किसी कठोर प्रतिज्ञासे क्या सम्बन्ध? इसलिये सीतासे वे क्या कहें? उन्हें क्या दिलासा दें? सीताके प्रेमकी पूर्तिमें अपनी असमर्थताके कारण वे संकोचमें पड़ गयीं। इस परवशतापर विवश हो उठीं; अतः उनकी वाक्शक्ति कुण्ठित हो गयी—

**जब सिय सखिन्ह प्रेमबस जानी। कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी॥**
(रामच० मा० १। २३१। ४)

इसी मानसिक ऊहापोहमें पड़ी हुई सखियोंने देखा कि लताओंके झुरमुटसे जिनकी छविका ईषद् अवलोकन करके उनकी सुन्दरताकी एक झलकपर ही मुग्ध हुई सीता अपनी सुध-बुध खो बैठी हैं, वे ही श्रीराम मेघोंके आवरणको हटाकर प्रकाशित होनेवाले चन्द्रमाकी तरह लताओंके झुरमुटसे निकलकर सामने आ गये हैं। अब उनका सम्पूर्ण सौन्दर्य-दर्शन निर्बाध था; किंतु सीताको इसका क्या पता? वे तो उस सौन्दर्यनिधिकी हृदयस्थ छविके अवलोकनमें मग्न थीं; ध्यानावस्थित थीं। श्रीरामके अलौकिक सौन्दर्यको देखनेमें निमग्न सखियोंमेंसे एकका ध्यान श्रीसीताकी ओर गया। उसे लगा कि सीता श्रीगौरीके ध्यानमें मग्न है, शायद उनसे मन-ही-मन इसी साँवरे कुँवरको पतिरूपमें पानेकी प्रार्थना कर रही हो। अस्तु! गौरीका ध्यान तो फिर भी किया जा सकता है। किंतु यह अनिर्वचनीय सौन्दर्य जब सम्पूर्णरूपमें सामने है तो क्यों न उसके

दर्शनसे नेत्रोंको कृतार्थ करलिया जाय, सम्पूर्ण लोचन-लाभ ले लिया जाय। चक्षुरिन्द्रियका लक्ष्य, उसकी कृतार्थता तो सम्पूर्ण सौन्दर्यका दर्शन है, तब आप इस सुअवसरको क्यों गँवा रही हैं!

बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू॥
(रामच० मानस १। २३३। १)

जब सीताने आँखें खोलकर रामके नखसे शिख-तक समग्र सौन्दर्यका अवलोकन किया, तभी उन्हें कठिन सुस्वादु सरस भोजनके ग्रासमें कंकड़की तरह अपने पिताकी प्रतिज्ञाका स्मरण हुआ और उनका मन अत्यधिक विक्षुब्ध—व्याकुल हो उठा—'काश! मैं, स्वाधीन स्वयंवरा होती'! अबतक सीताकी परवशता सखियोंपर स्पष्टतः प्रकट हो चुकी थी। अब सुशिक्षित सुसंस्कृत सखियोंका सरस भावमय वाक्कौशल देखिये। उनके प्रत्युत्पन्नमतित्वपर किस सहृदय पाठकका मन मुग्ध न हो जायगा—

परबस सखिन्ह लखी जब सीता। भयउ गहरु सब कहहिं सभीता॥
(रामच० मानस १। २३३। २½)

कितने सुन्दर ढंगसे बातको दूसरी ओर मोड़ा गया है, किंतु शायद सीताकी भावधाराको यह अवरोध न रोक सका; मोड़ न पाया; अतः एक वाग्विदग्धा सखीको कहना ही पड़ा—'पुनि आउब एहि बेरिआँ काली।'
(रामच० मानस १। २३३। ३)

रामकी उस समग्र छविको पुनः अपने हृदयपटल-पर अङ्कित करके और सम्पूर्ण बाह्य चेष्टाओंको समेटकर सीता लौट चलीं, सखियोंके साथ; किंतु उनका मन तो हर लिया था, उस साँवली सूरतने। वे लौट तो चलीं; परंतु उनके नेत्र बार-बार फिर जाते उस कमनीय श्याम-किशोरकी ओर। किंतु पीछे मुड़कर देखनेका कोई बहाना भी तो चाहिये। कहीं सखियोंपर उनकी चेष्टाएँ स्पष्ट प्रकट न हो जायँ, इसलिये वे कभी वृक्षोंको, कभी फूलोंको तो कभी पक्षियोंको और कभी हरिणोंको देखनेके बहाने पीछे घूम जाती हैं और देखती हैं केवल श्रीरामकी उस मोहिनी छविको। उनकी प्रीति और भी घनीभूत होती जाती है। उनके हृदयस्थ पूर्वरागका अङ्कुर अब पल्लवित होने लगा है—

देखन मिस मृग बिहग तरु फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि॥
(रामच० मा० १। २३४)

अपने पूर्वरागके सबसे बड़े बाधक शिवचापका उन्हें स्मरण हो आता है और रामप्राप्तिविषयक उनकी आशाकी ज्योति क्षीण होने लगती है और वे अत्यन्त दुःखी हो जाती हैं—

जानि कठिन सिवचाप बिसूरति।
(रामच० मा० १। २३४। १)

गोस्वामीजीने श्रीराम और श्रीसीताके पूर्वरागकी कितनी मनोहर, कितनी स्वाभाविक और कितनी सजीव झाँकी प्रस्तुत की है। किशोर मनोंका कैसा विशद मनोवैज्ञानिक मार्मिक चित्रण है। किंतु क्या मजाल कि उस पूर्वरागमें किंचित् भी शालीनताका उल्लङ्घन हो जाय, सामाजिक मर्यादाका अतिक्रमण हो जाय, वासनाका लेशमात्र भी प्रवेश हो जाय! इतने सुष्ठु और मर्यादित श्रृङ्गारका उदाहरण शायद ही विश्व-साहित्यमें भी खोजनेपर कहीं अन्यत्र मिले। विस्तीर्ण फलकपर बने इस पूर्वरागके चित्रमें रंगोंकी कितनी सफाई, कितना आकर्षण—रचना-कौशलकी कितनी विशदता और कितनी सजीवता है, किंतु क्या मजाल कि उस सर्वाङ्गपूर्णता और सुन्दरतामें थोड़ी भी कमी या कोई त्रुटि रह गयी हो!!

पूर्वरागके पूर्वोक्त दोनों उदाहरणोंमेंसे पार्वती-परमेश्वर-विषयक पूर्वराग एकपक्षीय है। नारदद्वारा पार्वतीके हृदयमें ही पूर्वरागके बीजका निक्षेप किया जाता है, जो उनके पूर्वजन्मके संस्कारोंद्वारा क्रमशः

अङ्कुरित और पल्लवित होता है, तपश्चर्याद्वारा पुष्पित होता और भगवान् शंकरकी कृपा होनेपर वह फलित होता है। शिव पार्वतीकी सिद्धितक उदासीन रहते हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि वे सर्वसमर्थ ईश्वर हैं, कोई संसारी मानव नहीं। आयुकी दृष्टिसे वे भूतपूर्व गृहस्थ अतः प्रौढ़ हैं, किशोर नहीं; इसलिये कविने उनके मनमें रागोद्बोध नहीं दिखाया है। पार्वती और परमेश्वरका मिलन जीव और ईश्वरका मिलन है। जीव अंश है, परमात्मा अंशी। जीवके मनमें परमात्मासे मिलनेकी उत्कण्ठा, आकुलता और आतुरता होती है, इसीलिये वह साकाङ्क्ष है, किंतु परमात्मा निराकाङ्क्ष है। जैसे समुद्रसे बिछुड़ा हुआ जल वर्षाद्वारा पृथ्वीपर गिरकर बड़ी तेजीसे नदी-नालोंसे होता हुआ अनेक अवरोधोंको पार करता हुआ बहा जाता है— आतुर-उत्कण्ठित होकर समुद्रमें मिलनेके लिये; उसी तरह परमात्मासे वियुक्त आत्मा भी परमात्मा-प्राप्तिके मार्गमें आनेवाली सांसारिक रुकावटोंको पार करता हुआ परमात्माकी ओर बढ़ता जाता है। पार्वतीकी तपस्या जीवात्माकी साधना है और उनकी शिव-प्राप्ति जीवकी सिद्धि, उनकी कल्याण-प्राप्ति परमात्माका तादात्म्य-लाभ है।

दूसरी ओर श्रीसीतारामविषयक पूर्वरागमें श्रीराम नर पहले हैं, नारायण बादमें; मानव पहले हैं और ईश्वर बादमें। उसी तरह सीता भी पहले मानवी हैं, देवी या महामाया बादमें। इसलिये उनके पूर्वरागको पूर्णतः मानवीय भावभूमिपर प्रतिष्ठित किया गया है। 'दीपसिखा सम जुबति तन, मन जनि होसि पतंग'के लक्ष्यवाले मानसकारने प्रेममें वासनाका परिहार तो किया है, किंतु संयत, मर्यादित और सहज नारी-पुरुषविषयक अनुरागकी अभिव्यक्तिमें उन्होंने अपनी सम्पूर्ण भावराशि उदारतापूर्वक उड़ेल दी है।

## सियारामकी जोरी

राजति राम-जानकी-जोरी।
स्याम-सरोज जलद-सुंदर वर, दुलहिनि तड़ित-बरन तनु गोरी॥ १॥
ब्याह समय सोहति बितानतर, उपमा कहुँ न लहति मति मोरी।
मनहु मदन मंजुल मंडप महँ छबि सिंगार-सोभा इक ठौरी॥ २॥
मंगलमय दोउ, अंग मनोहर, ग्रथित चूनरी पीत पिछोरी।
कनककलस कहँ देत भाँवरी, निरखि रूप सारद भइ भोरी॥ ३॥
इत बसिष्ठ मुनि, उतहि सतानँद, बंस बखान करैं दोउ ओरी।
इत अवधेस, उतहि मिथिलापति, भरत अंक सुख-सिंधु हिलोरी॥ ४॥
मुदित जनक, रनिवास रहसबस, चतुर नारि चितवहिं तृन तोरी।
गान-निसान बेद-धुनि सुनि सुर बरसत सुमन, हरष कहै को री॥ ५॥
नयनन को फल पाइ प्रेमबस सकल असीसत ईस निहोरी।
'तुलसी' जेहि आनंदमगन मन, क्यों रसना बरनै सुख सो री॥ ६॥

( गीतावली १०५ )

# भगवत्प्रेम ही विश्वप्रेम है

( नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन )

यह प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ रहा है कि जितनी-जितनी वर्तमान भोग-सुखलिप्सा-पूर्ण सभ्यताकी वृद्धि हो रही है, सुधार या उन्नतिके नामपर जातियाँ जितनी-जितनी इस माया-मोहिनी सभ्यताकी ओर अग्रसर हो रही हैं, उतना-उतना ही छल-कपट, दुःख, दम्भ और द्रोह अधिक बढ़ रहा है। अशान्तिकी प्रज्वलित अग्निमें घृताहुतियाँ पड़ रही हैं। रक्तपानकी हिंसा-लालसा बढ़ रही है। आजका जगत् मानो भस्म होनेके लिये पतंगकी भाँति मोहवश अग्निशिखाकी ओर प्रबल वेगसे दौड़ रहा है। इसीसे आज मानव-रक्तसे अपनी सुख-पिपासा शान्त करने, मानवीय अस्थिचूर्णसे पृथ्वीके पवित्र क्षेत्रको उपजाऊ बनाने और विविध प्रकारके वैज्ञानिक आविष्कारोंकी सहायतासे गरीब पड़ोसियोंके सर्वस्व-विनाशमें आत्म-गौरव समझनेकी घृणित धारणा बद्धमूल होती जा रही है। जबतक इसका यथार्थ प्रतीकार न होगा, तबतक बड़े-बड़े शान्तिकामी राष्ट्र-विधायकोंके प्रयत्नोंसे कोई भी सत्फल प्राप्त होनेकी आशा नहीं करनी चाहिये। ऊपरसे शस्त्र-संन्यास, शान्तिस्थापन और विश्वप्रेमकी बातें होती रहेंगी तथा अंदर-ही-अंदर परस्वापहरण-लोलुपता और परदुःख कातरताके नामपर विद्वेषाग्नि भस्माच्छादित अग्निकी तरह सुलगती रहेगी, जो अवसर पाते ही ज्वालामुखीकी तरह फटकर सारे विश्वके सुखनाशका कारण बन जायगी।

विश्वप्रेम केवल जबानकी चीज नहीं है, इसमें बड़ा भारी त्याग चाहिये। त्याग ही प्रेमका बीज है। त्यागकी सुधाधाराके सिञ्चनसे ही प्रेमवेलि अङ्कुरित और पल्लवित होती है। जबतक हमारा हृदय तुच्छ स्वार्थोंसे भरा है, तबतक प्रेमकी बातें करना हास्यास्पद व्यापारके सिवा और कुछ भी नहीं है। ममताके हेतुसे त्याग होता है, माताकी अपने बच्चेमें ममता है, इसलिये वह उसको सुखी बनानेके हेतु अपने सुखका त्याग कर देती है और उसीमें अपनेको सुखी समझती है। जिसकी जिसमें जितनी अधिक ममता होती है, उतना ही उसमें अधिक राग होता है, जिसमें अधिक राग होता है, उसीमें मुख्यबुद्धि रहती है। मुख्यबुद्धिके सामने दूसरी सब वस्तुएँ गौण हो जाती हैं।

इसी मुख्यबुद्धिका दूसरा नाम अनन्यानुराग है। जिसकी मुख्य वृत्ति स्त्रीमें होती है, वह स्त्रीके लिये अन्य समस्त विषयोंका त्याग कर सकता है—सारे विषय उस स्त्रीके चरणोंमें सुखपूर्वक अर्पण कर सकता है। पतिव्रता स्त्री पतिमें मुख्यबुद्धि रहनेके कारण ही अपना सर्वस्व पतिके चरणोंमें समर्पण कर उसके सुखमें ही अपनेको सुखी मानती है। इसी प्रकार माता-पिता, पुत्र, स्वामी, गुरु, सेवक, कीर्ति, परोपकार, सेवा आदि वस्तुओंमें जिसकी मुख्यबुद्धि होती है, उसीके लिये वह दूसरी सब वस्तुओंका, जो दूसरोंकी दृष्टिमें बड़ी प्रिय है—अनायास त्याग कर देता है।

हरिश्चन्द्रने सत्यके लिये राज्य त्याग दिया, कर्णने दानके लिये कवच-कुण्डल देकर मृत्युको आलिङ्गन करनेमें भी आनाकानी नहीं की। प्रह्लादने रामनामके लिये हँसते हुए अग्निप्रवेश किया। भरतजीने भ्रातृ-प्रेमके लिये राज्य त्यागकर माताकी भी आज्ञा नहीं मानी। युधिष्ठिरने भक्त कुत्तेके लिये स्वर्ग जाना अस्वीकार किया। शिबिने कबूतरके लिये अपना मांस दे डाला। रन्तिदेवने गरीबोंके लिये भूखोंमरना स्वीकार किया। दधीचिने परोपकारके लिये अपनी हड्डियाँ दे दीं। परशुरामने पिताकी आज्ञा पालनके लिये माताका वध कर डाला। भीष्मने पिताके लिये कामिनी-काञ्चनका त्याग कर दिया। ऐसे

सैकड़ों उदाहरण हैं । सारांश यह कि जिस विषयमें मनुष्यकी मुख्यबुद्धि होती है, उसके लिये वह अन्य सब पदार्थोंका त्याग सुखपूर्वक कर सकता है । उस एककी रक्षाके लिये वह उन सबके नाशमें भी अपनी कोई हानि नहीं समझता; वरन् आवश्यकता पड़नेपर उस एकके लिये स्वयं सबका प्रसन्नतापूर्वक त्याग कर देता है ।

भक्त इसीलिये भगवान्‌को अधिक प्यारा होता है कि वह अपनी ममता सब जगहसे हटाकर केवल भगवान्‌में कर लेता है, इसीसे उसका अनन्यानुराग और मुख्यबुद्धि भी भगवान्‌में ही हो जाती है । वह भगवान्‌के लिये सब कुछ त्याग देता है । तुलसीदासजीने इस सम्बन्धमें भगवान् श्रीरामके शब्द इस प्रकार गाये हैं—

**जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ॥**
**सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥**
**समदरसी इच्छा कछु नाहीं । हरष सोक भय नहिं मन माहीं ॥**
**अस सज्जन मम उर बस कैसें । लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें ॥**

( रामच० मा० ५ । ४७ । १½–३½ )

देवर्षि नारद भी भक्तिका लक्षण बतलाते हुए कहते हैं—

**तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ।**

( नारदभक्तिसूत्र १ )

'अपना सर्वस्व उसके चरणोंमें अर्पण करके निरन्तर उसका स्मरण करता रहे, कदाचित् किसी कारणसे स्मरणमें भूल हो जाय, उस समय हृदयमें ऐसी व्याकुलता हो, जैसे मछलीको जलसे निकालनेपर होती है ।' यही भक्ति है जिसमें मुख्यवृत्ति रहती है, उसका निरन्तर चिन्तन होना और चिन्तनकी विस्मृतिमें व्याकुलताका होना अनिवार्य है । ऐसे भक्तोंको भगवान् अपने हृदयमें वैसे ही रखते हैं, जैसे लोभी धनको रखता है; क्योंकि उसकी मुख्यवृत्ति धनमें ही रहती है । इस प्रकारके भक्तका भगवान् कभी त्याग नहीं करते । भगवान्‌के वचन हैं—

**ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् ।**
**हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥**

( श्रीमद्भा० ९ । ४ । ६५ )

'जो भक्त स्त्री, घर, पुत्र, परिवार, प्राण, धन, लोक और परलोक सबको त्यागकर मेरा आश्रय ले लेते हैं, उनको भला मैं कैसे त्याग सकता हूँ ?' जिसने इतना त्याग किया हो, उसका अत्यन्त प्रिय लगना स्वाभाविक ही है । भक्तोंका भगवान्‌पर अनन्य ममत्व है, इसीलिये तो भक्तोंपर भगवान्‌की ममता भी अधिक है । भगवान् कहते हैं—

**साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।**
**मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥**

( श्रीमद्भा० ९ । ४ । ६८ )

'वे साधु मेरा हृदय हैं, मैं उनका हृदय हूँ, वे मेरे सिवा किसीको नहीं जानते तो मैं उनके सिवा किसीको नहीं जानता ।' यह भगवान्‌में मुख्यबुद्धि होनेका ही परिणाम है ।

एक सम्मिलित कुटुम्बका तभीतक प्रेमपूर्वक निर्वाह हो सकता है, जबतक सबमें परस्पर ममता ( मेरापन ) बनी रहे । जहाँ 'पर' ( पराया )-भाव आया, वहीं कलह आरम्भ हो जाता है । कल्पना कीजिये एक कुटुम्बमें कुल मिलाकर दस मनुष्य हैं । जिनमें कमानेवाले दो भाई हैं । वे दोनों जबतक यह समझते हैं कि घरके सबलोग हमारे अपने हैं, तबतक रात-दिन कठिन परिश्रम करके भी उन सबका भरण-पोषण करनेमें उन्हें सुख मिलता है । पर जब किसी कारणसे एकके मनमें यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि मैं अपने स्त्री-पुत्रोंके अतिरिक्त दूसरे लोगोंके लिये क्यों इतने बखेड़ेमें पड़ूँ, तब एक दिनके लिये भी उनका भरण-पोषण करना उसके लिये भारी और दुःखद होने लगता है । इस कारणसे कि उसका ममत्व उन सबमेंसे निकलकर केवल स्त्री-पुत्रोंमें ही रह जाता है । ममताके साथ ही राग और मुख्यबुद्धि भी चली जाती

है। ऐसी अवस्थामें यदि माता-पिता जीवित होते हैं तो उन बेचारोंपर बड़ी विपत्ति आ पड़ती है।

एक मनुष्य स्वयं कष्ट सहकर देशकी सेवा क्यों करता है? इसीलिये कि देशमें उसका ममत्व है, देशके हानि-लाभमें वह सचमुच अपना हानि-लाभ समझता है। इसीका नाम देशात्मबोध है और यही यथार्थ देश-भक्ति है। एक दूसरे मनुष्यको देशजातिका नाम भी नहीं सुहाता, वह अपने परिवारपालनमें ही मस्त है; उसे देशकी कुछ भी परवा नहीं, यह इसीलिये कि देशमें उसकी ममता नहीं।

ममता ही आगे चलकर 'मेरा-मेरा' करते-करते, 'अहंता'में परिणत हो जाती है। अन्तकालसे इस नश्वर शरीरको हम 'मेरा-मेरा' करते आये हैं, इसलिये इसमें 'मैं' बुद्धि हो गयी है। शरीरमें रोग होता है, हम कहते हैं, 'मैं बीमार हूँ' जन्म-मृत्यु, क्षय-वृद्धि रूपान्तर आदि शरीरके होते हैं। 'मैं' ( आत्मा ) जो सदा निर्विकार, शुद्ध, एकरस है, वह ज्यों-का-त्यों रहता है। वह पहले लड़कपन और खेल-कूदका द्रष्टा था, फिर युवावस्था और काम-मदादिका द्रष्टा हुआ, अब वही वृद्धावस्था और इन्द्रियोंकी शिथिलताका द्रष्टा है, तीनों अवस्थाओंमें वह नित्य एकरूप है; परंतु भ्रमवश शरीरमें अहंभाव हो जानेके कारण कहता है—'पहले बालक था, तब तो मैंने सारी उम्र खेल-कूदमें खो दी, जवानीमें काम-मदमें समय बिता दिया, अब मैं बूढ़ा हो गया—कमजोर हो गया, भजन कैसे करूँ! मैं तो व्यर्थ ही मर जाऊँगा।' अजन्मा और अविनाशी होनेपर भी वह इस प्रकार क्यों समझता है! इसीलिये कि उसने शरीरको 'मैं' ( अपना ) समझ लिया है। इसीका नाम 'देहात्मबोध' है। यही मायाका बन्धन है। एक बालक दर्पणमें मुख देख रहा था, दर्पण था लाल, उसे अपना शरीर भी लाल दिखायी दिया, वह 'मेरा शरीर लाल हो गया, मैं लाल हो गया, मेरा शरीर लाल हो गया' इस प्रकार कहते-कहते अपने मूल सत्य स्वरूपको भूलकर दर्पणकी उपाधिसे दीखनेवाले प्रतिबिम्बको अपना रूप मानकर दर्पणके विकार ललाईका अपनेमें आरोपकर व्यर्थ ही अपनेको लाल मानकर दुःखी हो गया। यही अनात्मवादियोंका 'देहात्मबोध' है।

देहात्मबोध जब जोर पकड़ता है, तभी भेदको ठहरनेके लिये जगह मिल जाती है। एक ही परमात्मा अनेक प्रकारसे विभक्त हुआ-सा जान पड़ता है। मैं अमुक हूँ, दूसरा अमुक है, मुझे सुख मिलना चाहिये, मुझे सुखी होनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। इस अवस्थामें मनुष्य कभी-कभी तो सोचता है कि 'सभी मेरे-सरीखे ही मनुष्य हैं। उनको भी सुख मिले, मुझको भी मिले।' कभी-कभी वह स्वयं दुःख सहन करके भी दूसरोंको सुख पहुँचाता है, परंतु भेद-बुद्धिकी जड़ जमने और भोग-सुख-स्पृहा बढ़नेके साथ ही उसका प्रेम सङ्कुचित होने लगता है। तब वह सोचता है—'दूसरेको सुख मिले तो अच्छी बात है, परंतु उसके लिये मैं दुःख क्यों भोगूँ! मैं अपने प्राप्त सुखका परित्याग क्यों करूँ!' फिर सोचता है—'मुझे सुख मिलना चाहिये, दूसरोंको मिले या न मिले, इससे मुझको क्या!' फिर सोचता है—'मेरे सुखमें यदि दूसरोंका सुख बाधक है तो उसका नाश क्यों न कर दिया जाय!' इस स्थितिमें वह अपने सुखके लिये दूसरोंके सुखका नाश करने लगता है। फिर सोचता है, 'बस, मुझे सुख मिले, दूसरे चाहे दुःखसागरमें डूब जायँ।' इस अवस्थामें उसकी बुद्धि सर्वथा तमसाच्छन्न हो जाती है, उसके मन-से दया, करुणा, प्रेम, सहानुभूति आदि गुण लुप्त हो जाते हैं और वह अपनेको सुखी बनानेके लिये क्रूरताके साथ दूसरोंको दुःखतक पहुँचाने लगता है। अन्तमें उसका

स्वभाव ही ऐसा बन जाता है कि वह दूसरोंके दुःखमें ही अपनेको सुखी मानता है, दूसरोंकी विपत्तिके आँसुओंको देखकर ही उसका चित्त प्रफुल्लित होता है, यहाँतक कि वह अपनी हानि करके भी दूसरोंको दुःखी करता है। ऐसा मनुष्य राक्षससे भी अधम बताया गया है। कहना न होगा कि दूसरोंके साथ-ही-साथ उसके भी दुःखोंकी मात्रा बढ़ती ही जाती है।

एक मनुष्यने भगवान् शिवकी आराधना की, शिवजी प्रसन्न हुए। उसका पड़ोसी भी बड़े भक्तिभावसे शिवजीके लिये तप कर रहा था। शिवजीने दोनोंकी भक्तिका विचारकर आकाशवाणीमें उससे कहा कि 'मैं तुझपर प्रसन्न हूँ, इच्छित वर माँग, पर तुझे जो मिलेगा उससे दूना तेरे पड़ोसीको मिलेगा, क्योंकि उसके तपका महत्त्व तेरे तपसे दूना है।' यह सुनते ही वह बड़ा दुःखी हो गया। उसने सोचा 'क्या माँगूँ? पुत्र, धन और कीर्तिकी बड़ी इच्छा थी, परंतु अब यह सब कैसे माँगूँ? जो एक पुत्र माँगता हूँ तो उसके दो होते हैं, लाख रुपये माँगता हूँ तो उस नालायकको दो लाख मिलते हैं, कीर्ति चाहता हूँ तो उसकी मुझसे दूनी होती है।' अन्तमें उसने खूब सोच-विचारकर शिवजीसे कहा, 'प्रभो! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मेरी एक आँख फोड़ डालिये। उसने सोचा, मेरा तो काम एक आँखसे भी चल जायगा, परंतु वह तो दोनों फूटनेसे बिल्कुल निकम्मा हो जायगा। इससे अधिक सुखकी बात मेरे लिये और क्या होगी?' मित्रो! इस दृष्टान्तको पढ़कर हँसियेगा नहीं, हमें चाहिये कि हम अपने हृदयको टटोलें। क्या कभी उसमें इस प्रकारके भाव नहीं पैदा होते? 'चाहे पचास हजार रुपये मेरे लग जायँ, पर तुझको तो नीचा दिखाकर छोड़ूँगा।' 'मेरा चाहे जितना नुकसान हो जाय, पर उसको तो सुखसे नहीं रहने दूँगा।' इस मामलेमें चाहे मेरा घर तबाह हो जाय, लेकिन उसको तो भिखमंगा बनाकर छोड़ूँगा।' इस प्रकारके विचार और उद्गार हमलोगोंके हृदयमें ही तो पैदा होते और निकलते हैं। इसका कारण यही है कि हम लोगोंने देहात्मबोधके कारण अपनी ममताकी सीमा बहुत ही संकुचित कर ली है, छोटे गढ़ेका पानी गँदला हुआ ही करता है। इसी प्रकार संकुचित ममता भी बड़ी गंदी हो जाती है।

हमारे प्रेमका संकोच हो गया है, तभी यह दशा है! इसीसे आज लौकिक और पारलौकिक सभी क्षेत्रोंमें हमारा पतन हो रहा है!

इसके विपरीत भगवत्कृपासे ज्यों-ज्यों ममताका क्षेत्र बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसमें पवित्रता और सात्त्विकता आती है, हृदय विशाल होने लगता है; प्रेमका विकास होता है। इस अवस्थामें स्वार्थकी सीमा बढ़ने लगती है, वह व्यक्तिसे कुटुम्बमें, कुटुम्बसे जातिमें, जातिसे देशमें और फिर सारे विश्वमें फैल जाता है। तभी मनुष्य वास्तविक उदार होता है। 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्'से ऐसे ही महानुभावोंका निर्देश किया गया है। उपर्युक्त भावोंमें जो जितना-जितना अग्रसर होता है, उतना-उतना ही उसके प्रेमका विस्तार और सीमाबद्ध स्वार्थका नाश हो जाता है। फिर वह भगवान् बुद्धकी भाँति प्राणिमात्रका दुःख दूर करनेके लिये अपना जीवन अर्पण कर देता है। इस अवस्थामें उसे जिस सुखका अनुभव होता है, उसे वही जानता है।

जब समस्त विश्वमें मेरापन छा जाता है, तब उसका प्रेम भी विश्वव्यापी हो जाता है। फिर उसके द्वारा किसी भी हालतमें किसीकी बुराई नहीं हो सकती। अमृतसे किसीकी मृत्यु चाहे सम्भव हो, पर उसके द्वारा किसीका बुरा होना सम्भव नहीं। वह विश्वके हितमें ही अपना हित समझता है। सारे विश्वका स्वार्थ उसका

स्वार्थ बन जाता है। यही ममताका व्यापक और विशाल रूप है और यही वाञ्छनीय है। यथार्थ विश्वप्रेम इसीसे सम्भव है।

यही ममता जब मेरा-मेरा करते-करते शुद्ध 'मैं' बन जाती है, तब सारा विश्व ही उसका अपना स्वरूप बन जाता है। विश्वकी व्यापक सत्तामें उसकी भिन्न सत्ता सर्वथा मिल जाती है। तब केवल एक 'मैं'ही रह जाता है। यही सच्चा 'मैं' है। इस 'मैं'की उपलब्धि कर लेनेपर कौन किससे वैर करे, अपने आपसे कोई वैर नहीं करता है, अपने आपको कोई नहीं मारता!

यह विश्वव्यापक 'मैं'ही परमात्माका स्वरूप है। इस व्यापक रूपका नाम ही विष्णु है। इसीको 'विश्व' कहते हैं। 'श्रीविष्णुसहस्रनाम'में भगवान्को 'विश्व' नामसे ही बतलाया गया है। इन्हींका नाम श्रीकृष्ण है, जो व्रजमण्डलमें अपनी प्रेम-माधुरीका विस्तारकर मधुर वंशी-ध्वनिसे विश्वको निरन्तर प्रेमका मोहन सुर सुना रहे हैं। ममता, आसक्ति या स्वार्थ, जो संसारके पदार्थोंमें रहनेपर बन्धनका कारण होते हैं, वही जब श्रीकृष्णके प्रति हो जाते हैं, तब सारे बन्धनोंकी गाँठें आप-से-आप खुल जाती हैं। इसीसे भक्त कहते हैं कि 'भगवन्! हमारी आसक्तिका नाश न करो; परंतु उसको जगत्से हटाकर अपनी ओर खींच लो।' इस अवस्थामें भक्तको समस्त संसार वासुदेवमय दिखायी पड़ता है, तब वह मस्त होकर प्रेममें झूमता हुआ मुरलीके मोहन सुरमें सुर मिलाकर मीठे स्वरसे गाता है—

अब हौं कासों बैर करौं।
कहत पुकारत प्रभु निज मुखतें घट-घट हौं बिहरौं॥

इसलिये यदि हम सुख-शान्ति चाहते हैं तो हमें सबसे पहले उसका असली उपाय ढूँढ़ना चाहिये, हमें उस स्थानका पता लगाना चाहिये जहाँ सुख-शान्तिके स्रोतका उद्गम है। यदि हम प्रमादसे उसे भुलाकर—उसका सर्वथा तिरस्कार कर—मृगमरीचिकाके जलसे अपनी सुख-तृष्णा शान्त करना चाहेंगे तो वह कभी न होगी!

जो सारे संसारमें व्याप्त है, जो सबमें ओतप्रोत है, जो सबका सृष्टिकर्ता और नियामक है, उसे हृदयसे निकालकर कृत्रिम उपायोंसे सुख-शान्तिकी स्थापना कभी नहीं हो सकती। यदि सुख-शान्ति और विश्वप्रेमकी आकाङ्क्षा है तो हमें इस सिद्धान्तका संसारमें प्रचार करना चाहिये कि 'समस्त जगत् परमात्माका रूप है, हम उसीके अंश हैं अतएव सब एक हैं। एक ही जगहसे हमारी उत्पत्ति हुई है, एक ही जगह जा रहे हैं और इस समय भी उस एकहीमें स्थित हैं, पराया कोई नहीं है, सब अपने हैं, सब आत्मारूप हैं, सब अभिन्न हैं। जो मेरा आत्मा है, वही जगदात्मा है; जो परमात्मा तुममें है, वही मुझमें है और वही अखिल विश्व-चराचरमें है।' जब लोग इस बातको समझेंगे, तभी वास्तविक विश्वप्रेम और शान्तिकी स्थापना होगी। जबतक हमारे हृदयमें तुच्छ स्वार्थ भरा है, जबतक हम एक दूसरेको अलग समझते हैं, जबतक सबके साथ आत्माका एक संयोग नहीं मानते, तबतक वास्तविक प्रेम और शान्ति असम्भव है। अल्प ज्ञानसे कभी सुख नहीं मिल सकता—'नाल्पे सुखमस्ति।' सुखका उपाय सात्त्विक ज्ञान है। सात्त्विक ज्ञानका रूप है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
(गीता १८। २०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य भिन्न-भिन्न समस्त प्राणियोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समानभावसे एकरस स्थित देखता है, उसी ज्ञानका नाम सात्त्विक ज्ञान है।'

इस ज्ञानकी उपलब्धि करना ही 'विश्वप्रेम'को प्राप्त करनेकी यथार्थ साधना है ।

अतएव कृत्रिम बाह्य साधनोंका भरोसा छोड़कर इसीके लिये सबको प्रयत्नशील होना चाहिये । जब यह ज्ञान प्राप्त होगा, तब हृदयमें ईश्वरकी विमल छटा दिखायी देगी, फिर सारे जगत्‌में—अखिल विश्वमें उसी छटाका विस्तार दीख पड़ेगा । तब भक्ति-प्रणत चित्तसे विश्वरूप भगवान्‌के सामने हमारा मस्तक आप-से-आप झुक जायगा; सुख-शान्तिकी बंद सरिताका बाँध टूट जायगा । प्रेम-मन्दाकिनीकी त्रिधारा वेगसे बहकर स्वर्ग, भूमि और पाताल—तीनोंको प्रेमके मधुर सुखद प्रवाहमें बहा देगी । फिर सब तरफ हम देखेंगे—केवल प्रेम, आनन्द और शान्ति । यही भगवत्-प्रेम है और इसीका नाम 'विश्वप्रेम' है ।

## सोऽहम्

वह बाल बोध था मेरा—
निराकार निर्लेप-भावसे भान हुआ जब तेरा ॥
पहले एक अजन्मा जाना
फिर बहु रूपोंमें पहचाना
वे अवतार चरित तव नाना
चित्त हुआ चिर तेरा
निर्गुण, तू तो निखिल गुणोंका निकला वास बसेरा ।
तेरी मधुर मूर्ति, मृदु ममता,
रखती नहीं कहीं निज समता
तरुण कटाक्षोंकी वह क्षमता
फिरा जिधर भव-फेरा
अरे, डाल रक्खा विराट्‌ने सूक्ष्म, तुझीमें डेरा ॥
डरता था, मैं तुझसे स्वामी
किंतु सखा था तू सहगामी
मैं भी हूँ, अब क्रीड़ा-कामी
मिटने लगा अँधेरा
दूर समझता था, मैं तुझको, तू समीप हँस हेरा ।
अब भी एक प्रश्न था—कोऽहं ?
कहूँ कहूँ जबतक 'दासोऽहं'
तन्मयता कह उठी कि 'सोऽहं' ।
बस हो गया, सबेरा
दिनमणिके ऊपर उसकी ही, किरणोंका है डेरा ॥

—स्वर्गीय राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी गुप्त

# गीताका ज्ञानयोग—२६

## ( श्रीमद्भगवद्गीताके १४वें अध्यायकी विस्तृत व्याख्या )

( लेखक—श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज )

( वर्ष ५१, अङ्क ३, पृष्ठ ५९से आगे )

श्लोक

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

भावार्थ

'कुन्तीनन्दन ! रजोगुणको रागस्वरूप जानो । यह तृष्णा और आसक्तिको उत्पन्न करनेवाला है एवं तृष्णा तथा आसक्तिसे रजोगुण बढ़ता भी है । इनका परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है । देहाभिमानी पुरुषको रजोगुण कर्मकी आसक्तिसे देहमें बाँधता है; अर्थात् कर्मोंमें आसक्ति, ममता और फलेच्छा उत्पन्नकर तथा उनके साथ सम्बन्ध जोड़कर देहधारीको देहमें बाँध देता है ।

अन्वय

**कौन्तेय ! रजः, रागात्मकम्, विद्धि, तृष्णासङ्गसमुद्भवम्, तत्, देहिनम्, कर्मसङ्गेन, निबध्नाति ।**

**कौन्तेय**—कुन्तीनन्दन ।

**रजः, रागात्मकं, विद्धि**—रजोगुणको रागस्वरूप जानो । जैसे स्वर्णके आभूषण स्वर्णमय कहलाते हैं, ऐसे रजोगुणका स्वरूप रागमय है, अर्थात् रजोगुण रागकी ही प्रतिमूर्ति है ।

पातञ्जलयोगदर्शनके 'व्यासभाष्य'में क्रियाको रजोगुणका स्वरूप कहा गया है—

**'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।'*** ( सूत्र २ । १८ )

किंतु श्रीमद्भगवद्गीताके अध्ययनसे ऐसा ज्ञात होता है कि भगवान् ( क्रियामात्रको गौणरूपसे रजोगुण मानते हुए भी ) मुख्यतः रागको ही रजोगुणका स्वरूप मानते हैं ।† इसीसे **'योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा'** ( २ । ४८ ) पदोंमें आसक्तिका त्याग करके कर्तव्यकर्मोंको करनेकी आज्ञा दी गयी है ।

---

* इस सूत्रमें प्रकाशको सत्त्वका, क्रियाको रजका और स्थिति ( अवष्टम्भ )को तमका कार्य या स्वरूप कहा है ।

† श्रीमद्भगवद्गीताकी एक बहुत बड़ी विलक्षणता यह है कि वह किसी मतका खण्डन किये बिना ही उस विषयमें अपनी मान्यता प्रकट कर देती है । गीतामें भगवान्‌ने क्रियाको भी रजोगुण माना है, जैसे—'लोभः प्रवृत्तिरारम्भः' ( १४ । १२ ) । उधर कर्मको सात्त्विक कहा है ( १८ । २३ ) । इसलिये दोष क्रियाओंमें नहीं है, यह राग या आसक्तिमें है । रागपूर्वक किये हुए कर्म ही बाँधते हैं । स्वरूपतः क्रियाओंसे बन्धन नहीं होता । तात्पर्य यह है कि मनुष्य कर्मोंकी आसक्ति और कर्मोंमें फलकी इच्छासे ही बँधता है, कर्मोंके करनेमात्रसे नहीं । राग न रहनेपर सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी मनुष्य नहीं बँधता अर्थात् कर्म और पदार्थ दोनों ही बाँधनेवाले नहीं होते ( ४ । १९ ) यदि क्रियामात्र ही बन्धनकारक होती तो जीवन्मुक्त महापुरुषको भी बाँध देती; क्योंकि क्रियाएँ तो उनके द्वारा भी होती ही हैं । भगवान्‌द्वारा सृष्टिकी रचना भी 'कर्म' है तथा अवतार लेकर वे लीलाएँ भी करते हैं, पर कर्मोंमें आसक्ति ( राग ) न रहनेसे 'कर्म' उन्हें नहीं बाँधते ।

'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय' ( ९ । ९ )

अठारहवें अध्यायके २३वें, २४वें और २५वें श्लोकोंमें भगवान् सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकारके कर्मोंका वर्णन करते हैं । यदि मात्र कर्म रजोगुण ही होते तो फिर उनके सात्त्विक और तामस भेद ही कैसे होते ? इससे यह प्रतीत होता है कि गीता गौणरूपसे कर्मोंको भी रजोगुण मानती है; परंतु मुख्यतया वह रागको ही रजोगुण कहती है ।

निष्काम भावसे किये गये कर्म मुक्तिप्रदाता हो जाते हैं—( ३ । १९, ५ । १० ) । गुणातीत पुरुषके लक्षणोंका विवेचन करते हुए भगवान् कहते हैं कि 'प्रवृत्ति' ( १४ । २२ ) अर्थात् क्रिया करनेका भाव उत्पन्न होनेपर उस ( क्रिया )के प्रति उस गुणातीत पुरुषका राग नहीं होता । तात्पर्य यह कि गुणातीत पुरुषमें भी रजोगुणके प्रभावसे प्रवृत्ति तो होती है; किंतु रागपूर्वक नहीं । अतः यहाँ भगवान्का आशय क्रियाओंमें रागद्वेष न रखना ही है । सत्त्वगुण गुणातीत होनेमें सहायक होनेपर भी इसे सुख और ज्ञानके सङ्ग ( आसक्ति )से बन्धनमें हेतु कहा गया है । इससे यह सिद्ध होता है कि आसक्ति ही बन्धनकारक है, सत्त्वगुण स्वयं नहीं । इस दृष्टिसे भगवान् देहाभिमानीके रजोगुणद्वारा बाँधे जानेके प्रसङ्गमें इस पदद्वारा 'राग'को ही रजोगुणका मुख्य स्वरूप जाननेके लिये कह रहे हैं ।

महासर्गके आदिमें परमात्मामें—'**एकोऽहं बहु स्याम्**' ( छान्दो० ६ । २ । ३ ) संकल्प या क्रिया संकल्पका स्फुरण होता है । यह रजोगुणी है और उसे आरम्भिक कर्म मानना चाहिये । इसीको गीताने, 'भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाला जो त्याग है, वह 'कर्म' नामसे —'**भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः**' ( ८ । ३ ) इन पदोंसे कहा है । प्राणोंके मनःसंकल्पसे ही क्षोभ आरम्भ होता है । जिस प्रकार दहीमें मथानी डालकर बिलोनेसे मक्खन और छाछ अलग-अलग हो जाते हैं, वैसे ही इस रजोगुणी संकल्पसे प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होकर सत्त्वगुणरूप मक्खन और तमोगुणरूप छाछ अलग-अलग हो जाते हैं । सत्त्वगुण निर्मल, रजोगुण मटमैला ( गँदला ) और तमोगुण मलिन होता है । सत्त्वगुणसे अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियाँ, रजोगुणसे प्राण और कर्मेन्द्रियाँ और तमोगुणसे स्थूल पदार्थ, शरीरादिका निर्माण होता है तथा तीनों गुणोंसे संसारके अन्य पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है । इस प्रकार महासर्गके आदिमें सृष्टि-उत्पत्तिकी कारणरूपा भगवान्की क्रिया सर्वथा रागरहित होती है—इसीलिये भगवान् उसे दिव्य कहते हैं ।

'**जन्म कर्म च मे दिव्यम् ।**' ( गीता ४ । ९ )

भगवान्का अंश स्वयं तो शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है, फिर राग आसक्तिके बिना उसे कैसे बाँध सकते हैं, क्योंकि क्रिया और पदार्थ तो जड़ है ।

**तृष्णासङ्गसमुद्भवम्**—तृष्णा और आसक्तिको उत्पन्न करनेवाला ।

इन पदोंके दो अर्थ हो सकते हैं—( १ ) तृष्णा और आसक्तिको उत्पन्न करनेवाला तथा ( २ ) तृष्णा और आसक्तिसे उत्पन्न होनेवाला । जैसे बीज और वृक्षका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, अर्थात् बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज होता है, वैसे ही रजोगुणरूप बीजसे तृष्णा और आसक्तिरूप वृक्ष उत्पन्न होता है तथा तृष्णा और आसक्तिसे रजोगुणरूप बीज उत्पन्न होता है ।

सांसारिक पदार्थोंमें आकर्षणसे राग उत्पन्न हो जाता है । 'राग'से चित्तपर उनका रंग चढ़ जाता है, अर्थात् अन्तःकरणमें उनका महत्त्व दृढ़ हो जाता है । फिर उन्हीं पदार्थोंके लिये कामना, आशा, तृष्णा आदि विकार उत्पन्न होते हैं । पुनः तृष्णा और आसक्तिसे पदार्थोंमें राग बढ़ता है । रागकी वृद्धिसे मनुष्य शान्त नहीं रह सकता, अर्थात् वह कामनापूर्वक क्रियाएँ करने लगता है । फलस्वरूप मनुष्यका उत्तरोत्तर अन्तःकरण रागमय होते-होते वह सांसारिक पदार्थोंका दास हो जाता है । अन्तःकरणमें संसारकी आसक्ति रहनेसे वह वस्तुतः परमात्माका स्वरूप होते हुए भी परमात्मामें अश्रद्धा करता है । वह तीनों गुणोंके कार्य संसारकी चमक-दमकमें जीवनका असली लक्ष्य ( भगवत्प्राप्ति ) भूलकर सांसारिक विषयोंके संग्रह और भोगको ही परम लक्ष्य मान लेता है ।

तत् देहिनं कर्मसङ्गेन निबध्नाति—वह ( रजोगुण ) देहाभिमानी पुरुषको कर्मकी आसक्तिसे बाँधता है ।

निर्लिप्त होते हुए भी ( जीवका ) अपनेको लिप्त मानना और असङ्ग होते हुए भी सङ्गवाला मानने लगना—रागके ही कारण होता है । देहमें अभिमान रखनेवाले देहीको ही यह राग कर्मोंकी आसक्तिसे बाँधता है; शुद्ध, अविनाशी देहीको नहीं । ( देखिये 'देहिनम्' ( १२ । ५ ) पदकी व्याख्या 'गीताका भक्तियोग' पुस्तकमें 'देही'के दोनों अर्थ । )

रजोगुणकी वृद्धि होनेपर रागके कारण देहाभिमानी पुरुषकी प्राणियों और पदार्थोंमें महत्त्व-बुद्धि उत्पन्न होनेसे उनकी कामना जाग्रत् हो जाती है । कर्म और पदार्थोंका सम्बन्ध है, किंतु यह आवश्यक नहीं कि जो पदार्थ अभी प्राप्त हो रहे हैं, वे वर्तमानमें किये जा रहे कर्मोंके फलस्वरूप ही प्राप्त हो रहे हैं । पदार्थोंकी प्राप्तिमें प्रारब्ध ही मुख्य है । परंतु जीव वर्तमानमें किये जा रहे कर्मोंसे ही उनकी प्राप्ति मानकर यह समझ बैठता है कि अभी कर्म करनेसे मुझे ये पदार्थ प्राप्त हुए हैं । अतः वह रागपूर्वक कर्मोंमें ही प्रवृत्त होता रहता है । इस प्रकार रजोगुण जीवको उत्कट अभिलाषाके साथ कर्मोंमें प्रेरित कर देता है । फलस्वरूप आसक्ति, ममता और फलेच्छा आदि बढ़ते रहते हैं और जीवमें कर्तापनका अभिमान दृढ़ हो जाता है । इस प्रकार रजोगुणका कर्मोंके साथ सम्बन्ध जोड़ना ही कर्मसङ्ग है । इस कर्मसङ्गका फल शुभ, अशुभ और मिश्रित तीन प्रकारका होता है । इस फलको भोगनेके लिये जीवको बारंबार उत्तम, मध्यम और अधम योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है । रजोगुणद्वारा देहभिमानी पुरुषको कर्मोंकी आसक्तिसे बाँधनेका यही तात्पर्य है ।  ( क्रमशः )

---

# चमत्कारपूर्ण काव्य

भारतीय वाङ्मयके बहुशाख-वृक्षपर भगवद्गीता एक अत्यन्त कमनीय एवं शोभासम्पन्न सुमन है । इस अत्युत्तम गीतमें इस प्राचीन-से-प्राचीन और नवीन-से-नवीन प्रश्नका विविध-भाँतिसे विवेचन किया गया है कि 'मोक्षोपयोगी ज्ञान' कैसे प्राप्त हो सकता है ? क्या हम कर्मसे, ध्यानसे या भक्तिसे ईश्वरके साथ एकता प्राप्त कर सकते हैं ? क्या हमें आत्माके शान्ति-लाभके लिये आसक्ति और स्वार्थबुद्धिसे रहित होकर संसारके प्रलोभनोंसे दूर भागना चाहिये ?' इस चमत्कारपूर्ण काव्यमय ग्रन्थमें हमें ये विचार बारंबार नित्य नये रूपमें मिलते हैं । भगवद्गीताकी उत्पत्ति दर्शनशास्त्र और धर्मसे हुई है, उसके अंदर ये दोनों धाराएँ साथ-साथ प्रवाहित होकर एक दूसरेके साथ मिल जाती हैं । भारतीयोंके इस मनोभावका हम जर्मनदेशवासियोंपर बड़ा प्रभाव पड़ता है और इसी कारण बार-बार हमारा मन भारतकी ओर आकर्षित होता है ।

—श्रीमती डॉ० एलजे ल्यूडर्स

श्रीमद्भगवद्गीताको लाखों मनुष्योंने सुना, पढ़ा तथा पढ़ाया है और आत्माको प्रभुकी ओर अग्रसर करनेमें यह पुस्तक अत्यन्त आशाजनक सिद्ध हुई है । उसकी धारणा सर्वथा निराधार नहीं है, क्योंकि गीताका सुन्दर संदेश अनन्त प्रेमके अभिलाषियोंके लिये प्रत्येक स्थान एवं समयपर अपनी असीम दयाकी वर्षा करना तथा जीवनके सभी कार्योंका परमात्माकी निःस्वार्थ सेवाके निमित्त समर्पण करना है ।

—डॉ० लीओनेल डी० बैरेट

# विपत्तिके सखा

( लेखक—श्रीशिवानन्दजी )

मनुष्यके जीवनमें अकस्मात् ऐसे भीषण संकट आ जाते हैं, जिनकी उसे कल्पनातक नहीं होती। ऐसे समय वह विकल एवं हतबुद्धि हो जाता है। मूल्यवान् धनका अपहरण, मिथ्या दोषारोपण, आकस्मिक दुर्घटना, परम प्रिय व्यक्तिका अप्रत्याशित दु:खद मरण इत्यादि संकटके ही रूप हैं। कदाचित् इन सबमें प्रियजन-वियोग सर्वाधिक दु:खदायक है। माता-पिताके सामने उनमें प्राणोपम पुत्र-पुत्रीका निधन अत्यन्त कारुणिक एवं हृदयविदारक होता है। जब दीर्घकालतक विहित सेवाके फलस्वरूप पुष्पित एवं पल्लवित, हरा-भरा, तरुण, सुन्दर वृक्ष आँधीके भयानक झोंकेसे मूलोच्छेद होनेपर मालीके सामने ही धराशायी हो जाता है तो वह असहायता एवं विवशतामें हाथ मलता और रोता रह जाता है। इस दैवी वज्रघातको वह कैसे सहन करे? ऐसी घोर विपत्तिमें उसके कौन सहायक हो सकते हैं?

महात्मा तुलसीदास कहते हैं कि संकटके सच्चे साथी मनुष्यके पास सहायताके लिये सदैव तैयार खड़े रहते हैं, किंतु वह उनका सदा अपमान करता एवं उन्हें बहिष्कृत कर देता है। यदि वह उनका सहारा ले लेता है तो कुटुम्बीजन, मित्रगण तथा अन्य हितैषीगणकी सहायता भी सार्थक सिद्ध हो जाती है। ये सहायक हैं—

तुलसी असमय के सखा धीरज धरम बिबेक।
साहित साहस सत्यब्रत राम भरोसो एक॥
(दोहावली ४४७)

धैर्यको सहारा देनेवाली मनुष्यकी अपनी अर्जित की हुई विद्या सखा ही तो है।* विद्या मनुष्यको उद्दण्ड एवं उद्धत नहीं बनने देती, विनम्र एवं विनयशील बनाती है। विद्या विनयसे शोभित होती है। उद्दण्ड व्यक्ति विद्याका भण्डार होकर भी सबको शत्रु बनाकर अपना अहित कर लेता है। विद्या ही विवेकको जन्म देती है, जिससे धीरता, क्षमा, धर्म, विनय आदि गुण आते हैं।

विवेकका अर्थ है मानसिक संतुलनको सुरक्षित रखकर विचारपूर्वक पग उठाना। भयभीत, चिन्ताग्रस्त, क्षुब्ध और कुण्ठित व्यक्ति अपनी कार्य-हानि कर लेता है। विवेक और भावुकतामें प्राय: विरोध है। मनुष्य भावुकताके वशीभूत होकर रोने बैठ जाता है और विवेक खोकर वह अधीर एवं अकर्मण्य हो जाता है। अकर्मण्य मनुष्य संकटोंसे कभी निकल नहीं पाता और वे उसे बुरी तरह ग्रस्त कर लेते हैं। अविवेक मानो आपदाओंको आमन्त्रित करता जाता है और विवेक उनका समाधान करता है। भावुकताका अतिरेक आँधीकी भाँति मनुष्यके विवेकका अपहरण कर लेता है। यह संसार भावुकताप्रधान व्यक्तिके लिये नरक तथा विचार-प्रधान व्यक्तिके लिये स्वर्ग है। भावुकता कभी-कभी प्रेमको मोहके रूपमें विकृत कर देती है।

भावुकताके आवेशमें रोते रहना किसी समस्याका समाधान नहीं है। दिवंगत प्रियजनका स्मरण करते हुए तथा बीती कहानीको बार-बार दोहराते हुए हम समस्याका विस्तार कर लेते हैं तथा समाप्त अध्यायको भी समाप्त नहीं होने देते हैं। दिवंगत प्रिय व्यक्तिको प्रेमास्पदके स्थानपर पूजास्पद बनानेसे भी भावुकताका शमन होता है—'ज्ञानी काटे ज्ञानसे मुरखा काटे रोय।' विवेकका अर्थ है—वस्तुस्थितिको समझना, यथार्थके साथ समझौता करना, क्षोभ एवं शोक त्याग करना और भविष्यदुन्मुख होकर आगे बढ़ना। भविष्यदुन्मुखी व्यक्ति जीवनमें अपने दायित्वों एवं कर्तव्योंकी पूर्तिके लिये उठ खड़ा होता है। परिवारके मुखियाको तो विशेषत: दायित्व-बोधके कारण भविष्यदुन्मुख ही होना चाहिये;

* आचार्य शंकरने 'धीर'का अर्थ गीता २। १३ में बुद्धिमान्, विद्वान् किया है।

क्योंकि सब इसके व्यवहारसे प्रभावित होते हैं। रेलगाड़ीके इंजनका दायित्व विशेष अधिक होता है; क्योंकि उसके चलने या रुकनेपर ( आश्रित ) डब्बोंकी गति निर्भर होती है।

सुमन्त्रसे यह सुनकर कि राम, सीता लक्ष्मणसहित, गङ्गा पार कर वन चले गये, राजा दशरथ विकल होकर गिर पड़े तथा मरणासन्न हो गये। उस समय भविष्य-दुन्मुखी दृष्टिसे कौसल्याजीने राजासे कहा—

**नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम बियोग पयोधि अपारू॥**
**करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥**
**धीरजु धरिअ त पाइअ पारू। नाहिं त बूड़िहि सब परिवारू॥**
**जौं जियँ धरिअ बिनय पिय मोरी। रामु लखनु सिय मिलहिं बहोरी**

**( रामचरितमानस २ । १५३ । ३-४ )**

'हे नाथ! आप मनमें समझकर विचार करें कि श्रीरामका वियोग अपार सागर है। अयोध्या जहाज है और आप उसके कर्णधार हैं। सब प्रियजन ( कुटुम्बी तथा प्रजा ) ही यात्रियोंका समाज है, जो इस जहाज-पर चढ़ा हुआ है। आप धैर्य धारण करें तो सब पार हो जायँगे, अन्यथा समस्त परिवार डूब जायगा। हे प्रिय स्वामी! यदि मेरी विनय हृदयमें धारण कर लें तो श्रीराम, लक्ष्मण और सीता पुनः आ मिलेंगे।' किंतु दशरथ अधीर हो गये और उनका प्राणान्त हो गया।

**धीरास्तरन्ति विपदं न हि दीनचित्ताः।**

'धीर विपत्तिको पार कर लेते हैं, दीनचित्त नहीं।' **'स्वधैर्यादृते न कश्चिदभ्युद्धरति संकटात्।'** 'अपने धैर्यके अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु मनुष्यका संकटसे उद्धार नहीं कर सकती है। धीर पुरुष विपत्ति आनेपर और अधिक दृढ़ हो जाते हैं— **'निसर्गः स हि धीराणां यदापद्यधिकं दृढम्।'** (कथास.) सच तो यह है कि धीर वे ही हैं, जिनके मनमें घबराहटका अवसर होते हुए भी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता—**'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः॥'**

**( कुमारसम्भव १ । ५९ )**

जीवनकी सार्थकता सोत्साह जीनेमें है, उससे भाग खड़े होनेमें नहीं। जिंदगी जिंदादिलीका नाम है। जीवनको जीना सीखनेसे ही दुःख भागेगा। पलायनवादी दुर्बल मनुष्य अपने लिये नरकका निर्माण कर लेता है और चालाक लोगोंका शिकार बन जाता है। दुर्बल व्यक्ति अपयश और निन्दाके भयसे त्रस्त होकर कुटिल लोगोंके षड्यन्त्रमें फँस जाता है। विवेक हमें अपनी दुर्बलताओंपर विजय पानेके लिये अपने वशमें रहकर जीनेके लिये प्रेरित करता है। सबल व्यक्ति ही सुखका अधिग्रहण करनेमें सक्षम होता है। दुर्बल व्यक्तिको ही जीवित और मृतक भी डरा सकते हैं, सबलको नहीं। अनेक निर्मम लोग किसीका घर जलनेपर हाथ तापने लगते हैं तथा अनर्गल प्रचार एवं अपवाद करके स्थितिको विषम बना देते हैं। उनसे निपटनेके लिये भी सबलता चाहिये।

जीवन एक चुनौती है। विवेकशील व्यक्ति चुनौतियोंको स्वीकार कर उनका उत्तर देनेके लिये कर्म-क्षेत्रमें कूद जाता है। वह दूसरोंको भी जीनेकी राह दिखा देता है तथा लोग उसको आदर्श प्रेरणास्रोत मानकर महापुरुषकी संज्ञा दे देते हैं। मनुष्यमें असीम शक्ति तथा अनन्त सम्भावनाएँ छिपी पड़ी हैं, जो संकटको ललकारनेसे प्रस्फुटित हो जाती हैं। कायर संकटको देखकर रो उठते हैं तथा वीर उसका डटकर सामना करनेके लिये कटिबद्ध हो जाते हैं। संकट विवेकहीन व्यक्तिके लिये अभिशाप है, विवेकशीलके लिये वरदान।

विवेकके साथ साहस होनेपर ही मनुष्य संकटका सामना कर सकता है। साहसके अभावमें विवेक पङ्गु हो जाता है। शोकयुक्त वातावरणसे बाहर निकल आनेके

लिये साहस चाहिये । शोक मनुष्यकी शक्तियोंको चाट जाता है और उसे निर्जीव बना देता है। शोकाकुल परिवारमें सब सहमे हुए पाषाणकी भाँति प्राणशून्य, भ्रान्त एवं कुछ खोये-से हो जाते हैं। शोक रुचियोंका शोषण कर लेता है तथा जीवनके रसको विषाक्त कर देता है । अकल्पित भीषण दुर्घटनासे उत्पन्न अपूर्णीय क्षति देखकर मनुष्य आश्चर्यचकित एवं अवाक् हो जाता है तथा धीरे-धीरे शोक उसे घेरकर संज्ञाशून्य बना देता है । साहसद्वारा ही मनुष्य शोकस्तब्धतासे मुक्त हो सकता है। साहस जीवनमें पुनः रस-संचार करनेमें समर्थ होता है। साहसी व्यक्ति संघर्षके लिये उत्साहपूर्वक उठ खड़ा होता है तथा कुटिलजनद्वारा अकारण निन्दित होने-पर भी हतोत्साह नहीं होता । जीवन चलानेके लिये पग-पगपर साहस चाहिये। साहसहीन व्यक्ति जीवित शवकी भाँति होता है, जिसका सभी उपहास एवं अनादर करते हैं।

संकटमें सुकृतोंके प्रतापसे अप्रत्याशित सहायता एवं गहन सान्त्वना प्राप्त हो जाती है। पूर्वकृत पुण्योंकी स्मृति सुखदायक होती है। पुण्यशील व्यक्तिका मन निर्मल हो जाता है तथा वह संकटमें भी गहन शान्तिका अनुभव करता रहता है। संकट आनेपर सत्यव्रत लेना चाहिये। संकल्पोंका परित्यागकर ही मनुष्य शोक-मोहके सागरको पार कर सकता है। हमें अपना स्वार्थ छोड़कर तथा उदार होकर दूसरोंके लिये जीनेका व्रत लेना चाहिये।

किंतु मनुष्यका सर्वश्रेष्ठ सखा—'राम भरोसो एक' ( दोहावली ४४७ ) ईश्वरपर दृढ़ विश्वास रखना है। संकट, शोक, चिन्ता-भय, अपवाद-विषाद तथा अशान्तिके क्षणोंमें दृढ ईश्वरनिष्ठा ही मनुष्यको संबल देती है; किंतु कभी-कभी मनुष्य प्रमादवश उन क्षणोंमें उसे ही भुला देता है, जिसकी उसे परम आवश्यकता होती है। संकटकी महौषधि ईश्वरमें निष्ठा है। ईश्वरपर दृढ़ विश्वास रखनेवाला मनुष्य दुःखको ईश्वरका वरदान मानकर, प्रभु-इच्छा मानकर सहर्ष स्वीकार कर लेता है तथा विचलित नहीं होता । संकट ईश्वरवादीके लिये परीक्षाका समय होता है। गुरु गोविन्दसिंहके दो पुत्र युद्धमें वीरगतिको प्राप्त हो गये तथा दोको दीवारमें चुन दिया गया, किंतु गुरु शोकाकुल न हुए। इस प्रकार गुरुगोविन्द सिंह परीक्षामें खरे उतरे। शोकके वातावरणमें संतोंका दर्शन, भगवद्भजन, हरिचर्चा और उत्तम जनके प्रेरक प्रसङ्ग संबल प्रदान करते हैं।

ईश्वरभक्त घोर विपत्तिमें भी दयामय प्रभुका कल्याणकारी हाथ देखता है। भक्त नरसीने अपने एकमात्र पुत्रके निधनपर भी ईश्वरको दोष नहीं दिया तथा कहा—भलुं थयुं भाँगा जंजाल, सुखे भजीशुं श्रीगोपाल ( भला हुआ छूटा जंजाल, सुखसे सुमिरूँ श्रीगोपाल )। यह ईश्वर-निष्ठाकी पराकाष्ठा है।

परमात्मा मङ्गलमय एवं दयामय हैं तथा उनका विधान नितान्त मङ्गलमय है। ईश्वरविश्वासकी दृढ़तासे खोया हुआ आत्मविश्वास भी लौट आता है। दैवी विधानको नतमस्तक होकर स्वीकार करनेसे ही संतोष एवं शान्ति प्राप्त होती है। अल्पज्ञ मनुष्य ईश्वर-विधानके रहस्यको नहीं जान सकता । प्रकृतिमें कोई घटना भी निरुद्देश्य नहीं होती है, यद्यपि हम अन्तर्निहित रहस्यको नहीं समझ पाते हैं।

बहुत कुछ जाननेपर भी मनुष्य बहुत कम जानता है। ईश्वरके विधानके अनुसार घटनाएँ घटती रहती हैं, हमें वे हितकर लगें अथवा अहितकर । अवश्यम्भावी घटनाका कोई विकल्प नहीं होता है—

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥
( रामच० मा० १ । १२७ । १ )

सिद्धान्त है कि—

यदभावि न तदभावि भावि चेन्न तदन्यथा।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते॥

( शि० उमा० खं० ७। १५, स्कन्दपुराण० ब्र० धर्मारण्य ३। ७६ पञ्चतन्त्र २। ११३, हितोपदेश, प्रस्ताविका० ३०,४। ८, भर्तृहरिसंग्रह चाणक्यनीति १३। ४, सुभाषितावली० २६६२ ) जो नहीं होनेवाला है, वह नहीं होगा, जो होनी है, वह अन्यथा नहीं होगी। दुःखीजन चिन्ताविषको नष्ट करनेवाली इस ओषधिका सेवन क्यों नहीं करते हैं? हम मनमें उलट-पुलट करते रहते हैं कि ऐसा करनेसे वैसा घटित न होता; किंतु इस तर्कसे कोई लाभ नहीं होता।

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावहि साखा॥

भगवान् शिव यह कहते ही शान्तिके लिये हरिनाम जपने लगे।

अस कहि लगे जपन हरिनामा।
( रामच० मानस १। ५२। ४ )

नियत स्थान और समयका संयोग होनेपर मृत्यु घटित हो जाती है, भले ही निमित्त कुछ भी बन जाय। काल किसीको डण्डा नहीं मारता है, समय आनेपर उसकी कर्तव्यभावना, बल, बुद्धि और विवेकका अपहरण कर लेता है।

काल दंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा॥
( रामच० मानस ६ )

काल सिरपर चढ़कर बुद्धिमान् व्यक्तिसे भी मूर्खताका कार्य करा लेता है। ऐसे ही प्रसंगमें भगवान् शिव कहते हैं कि ज्ञानी और मूढ़ कोई नहीं है; सब प्रभुकी इच्छापूर्तिके निमित्त हैं।

बोले बिहसि महेस तब, ग्यानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥
( रामच० मा० १। १२४ क )

सभी मनुष्य विधिके विधानके अनुसार जीवनके रङ्गमञ्चपर अपनी-अपनी भूमिकाका निर्वाह करके, अपना-अपना उद्देश्य पूरा करके अपने-अपने समयपर अपने-अपने निर्दिष्ट प्रकारसे चले जाते हैं।

जीवनमें दुःखका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। दुःखका सही उपभोग करनेपर मन निर्विकार हो जाता है। विवेकरहित होनेपर दुःख पतनकारक एवं भयकारक दीखता है, किंतु विवेकसहित होनेपर वह जीवात्माका उन्नायक हो जाता है। दुःखाग्निमें गुजरनेपर आत्मसंशुद्धि होती है। दुःख वह वस्तु है, जो मनुष्यको नश्वरसे अनश्वरकी ओर ले जाता है। कुन्तीने श्रीकृष्णसे दुःखका वरदान मागा था—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
( श्रीमद्भा० १। ८। २५ )

'हे जगद्गुरु! मुझे सदा दुःख प्राप्त होते रहें।'

हम सुखको बटोरना और दुःखको छोड़ना चाहते हैं; किंतु जीवनको स्वीकार करनेपर हमें दोनों ही स्वीकार करने होंगे; क्योंकि दोनों जीवनके अविभाज्य अङ्ग हैं। सुख और दुःख एक ही सिक्केके दो पहलू हैं। जीवनरूपी वस्त्रमें सुख और दुःखके धागे अविच्छेद्य एवं अवियोज्य हैं। सुखके साथ दुःख और दुःखके साथ सुख ऐसे ही जुड़े हुए हैं जैसे दिनके साथ रात और रातके साथ दिन जुड़े हुए हैं। जीवनमें सुख और दुःखकी अविभाज्यता स्वीकार कर लेनेपर हम उन्हें सहज रूपमें ग्रहण कर सकेंगे।

जीवनकी भाँति मृत्यु एक सहज घटना है। मृत्युको जीवनकी भाँति ही सहजभावसे स्वीकार करना मृत्युपर विजय पाना है—'**संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्**।' ( वाल्मी० रामायण २। ) संयोगका अन्त वियोग है तथा जीवनका अन्त मरण है। जन्मके बाद मरण होना एक ध्रुव सत्य है।

वास्तवमें, मनुष्य अपनेको कर्ता-भोक्ता माननेके कारण सुखी-दुःखी होता है। दैवी प्रवाहमें मनुष्य निमित्तमात्र है। यदि मनुष्य अपने अहंभावसे मुक्त होकर 'मैंसे छूटकर, साक्षीभाव जगा ले तो वह दुःखोंसे

सदाके लिये मुक्त हो जाय । गीतामें भगवान् श्रीकृष्णका उपदेश है—'**निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् !**' हे अर्जुन, तू अपनेको निमित्तमात्र मान । कर्म निमग्न होते हुए भी मनमें तटस्थता रहनी चाहिये ।

मनुष्य अपने आदर्शोंके अनुरूप जीवन-पथपर प्रभुके भरोसे आगे बढ़ता जा सकता है । गतिशील मनुष्यके पाप नष्ट हो जाते हैं, श्रम करनेसे वे मार्गमें ही नष्ट हो जाते हैं । अतएव रुको मत, आगे बढ़ते चलो ।

**'शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः ।**
**चरैवेति चरैवेति चरैवेति ।'** (ऐतरेयब्राह्मण)

दुःखके वेगको आध्यात्मिक दिशामें मोड़ देनेपर वह सत्यका साक्षात्कार करानेमें समर्थ होता है । महात्मा बुद्धने दुःखकी चरमावस्थाकी अनुभूतिके द्वारा सत्यका साक्षात्कार किया था । दार्शनिक कोरकेगार्दने दुःखके प्रभावको समझनेके लिये शोकानुभूतिके प्रयोग किये । दुःख ही जीवनके रहस्यका उद्घाटन करता है । यदि हम शोकसे मनको कुण्ठित न होने दें और शोकके प्रभावका सदुपयोग करें तो वह स्थायी सुखको और उन्मुख कर देता है । यदि हम दुःखसे मोहत्यागकी शिक्षा ग्रहण करके सुखका मोहत्याग कर दें तो दुःखसे सदाके लिये आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाय । दुःखको साधनाके द्वारा स्थितप्रज्ञ एवं समभावस्थित होकर मनुष्य जीवनमुक्त हो जाता है ।

## विपत्ति और स्थितप्रज्ञता

लोकमान्य तिलक कितने स्थितप्रज्ञ थे, यह उनके जीवनकी एक घटनासे प्रकट है। एक बार वे अपने कार्यालयमें किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्नपर विचार कर रहे थे। प्रश्न बड़ा ही जटिल और राजनीतिक था। इधर उनके ज्येष्ठ पुत्र कई दिनोंसे बीमार थे।

एकाएक चपरासीने आकर कहा—'बड़े लड़के साहबकी तबीयत बहुत खराब है।' तिलकने कुछ भी ध्यान नहीं दिया। वे अपने काममें लगे रहे।

थोड़ी देर बाद उनके एक सहयोगीने आकर कहा—'पुत्र इतना अस्वस्थ है कि कब क्या हो जाय, कहा नहीं जा सकता। फिर भी आप अपने काममें ही उलझे हैं।'

तिलकने प्रश्नोत्तरोंसे काममें बाधा होती देख बड़ी उपेक्षासे कहा—'उसके लिये डाक्टरोंको कह दिया है। वे देख ही लेंगे। मैं जाकर क्या करूँगा। यह काम तो मुझे ही न करना है।' साथी चला गया।

काम पूरा करके लोकमान्य शामको घर लौटे तो पुत्रका प्राणोत्क्रमण हो चुका था। लगे हाथ कपड़े उतार वे उसकी महायात्राकी तैयारीमें जुट पड़े।

× × × × ×

हम अपनी विपत्तियोंका जितना ही कम प्रदर्शन करते हैं, उतनी ही अधिक सहानुभूतिके हम अधिकारी होते हैं।

—डिवी

वीरोंके आँसू बाहर निकलकर सूखते नहीं, वृक्षोंके रसकी भाँति भीतर ही रहकर वृक्षको पल्लवित और पुष्पित कर देते हैं।

—प्रेमचन्द

# महामुनि बादरायणकी ब्रह्मजिज्ञासा

[ मूल बँगलासे रूपान्तरित ]

( लेखक—ब्रह्मलीन आचार्य श्रीअक्षयकुमारजी वन्द्योपाध्याय )

[ गताङ्क—वर्ष ५१, सं० ३, पृष्ठ-सं० ९२से आगे ]

पञ्चम सूत्रसे महर्षि बादरायण ब्रह्मके जगत्कारणत्वके प्रतिपादन एवं स्वरूप-निर्णयपर युक्ति-विचार आरम्भ करते हैं। पञ्चम सूत्रमें वे कहते हैं—'ईक्षतेर्नाशब्दम्'—श्रुतिवाक्यमें सृष्टि-प्रकरणमें ईक्षणका उल्लेख हुआ है ( अर्थात् ज्ञानपूर्वक जगद्-रचनाका वर्णन हुआ है )। जगत्का कारण 'प्रकृति' नहीं हो सकती। इस स्थानपर 'अशब्द'का भाव पूरा स्पष्ट नहीं है। इसीलिये अधिकांश भाष्यकारोंने 'अशब्द' पदसे शब्द ( वेद ) प्रमाण-रहित सांख्योक्त अचेतन 'प्रधान' या प्रकृतिको ग्रहण किया है। प्रकरणसे भी यही बात ठीक जँचती है। सांख्यदर्शनके प्राचीनतम आचार्य, 'आदि विद्वान्'के रूपमें विख्यात सिद्धर्षि कपिलने शब्दप्रमाण अथवा श्रुतिवाक्यके ऊपर निर्भर न रहकर स्वतन्त्र युक्ति-तर्कद्वारा अचेतन त्रिगुणात्मक 'परिणामशाली रीति-प्रधान' या प्रकृतिको समस्त विश्वजगत्के मूल कारणके रूपमें प्रतिपादित किया है। उन्होंने और भी प्रतिपादन किया है कि पुरुष असंख्य हैं—प्रत्येक जीवात्मा ही नित्य, निर्विकार, चैतन्यस्वरूप है, किंतु वह अनादिकालसे प्रकृतिके साथ अविवेकरूप संयोगके कारण बद्धभावको प्राप्त हो गया है, विवेक-ज्ञान होनेसे ही आत्मा प्रकृतिको त्याग करके अपने निर्विकार चैतन्यस्वरूपमें प्रतिष्ठा लाभ करता है।

इस सांख्य मतवादको अत्यन्त प्राचीन एवं सुदृढ़ युक्ति-तर्कके ऊपर प्रतिष्ठित मानते हुए 'वेदान्तसूत्रकार'ने ब्रह्मकारणवादके प्रतिपादनके निमित्त सांख्योक्त प्रकृति-कारणवादके खण्डनका सर्वापेक्षा अधिक प्रयास किया है। सर्वप्रथम इस प्रकारका संदेह हो सकता है कि औपनिषद ऋषियोंने यद्यपि जगत्के मूलकारणका निरूपण करनेके लिये 'ब्रह्म' 'सत्' ( कहींपर 'असत्' )-प्रभृति शब्द व्यवहार किये हैं, 'प्रधान' अथवा 'प्रकृति' या 'अव्यक्त' शब्दका मुख्यतः प्रयोग नहीं किया, तथापि उनका ब्रह्म सम्भवतः प्रकृतिसे अभिन्न कोई और हो सकता है। 'अशब्द' ( शब्द या श्रुतिके अतिरिक्त अन्य प्रमाणद्वारा प्रतिपादित ) प्रकृति भी सम्भवतः उनके शब्द-प्रमाणका लक्ष्य हो सकती है।

प्रारम्भमें ही बादरायणने इस शङ्काका निवारण कर दिया। सांख्योक्त प्रकृतिके अर्थमें श्रुतिका 'ब्रह्म' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जो प्रकृति है, वही ब्रह्म है—ऐसी धारणा किसी प्रकार भी नहीं बनायी जा सकती। इस सम्बन्धमें कितने ही सूत्रोंमें उन्होंने कितनी ही युक्तियाँ दी हैं। प्रथमतः श्रुतिकी सृष्टि-प्रक्रिया ईक्षणपूर्विका है। ( ५ ) ईक्षण या ज्ञानपूर्वक संकल्पद्वारा विश्व-वैचित्र्यका उत्पादन करना अचेतन प्रकृतिके पक्षमें असम्भव है एवं सांख्यसूत्रमें इस प्रकारका 'ईक्षण' स्वीकृत भी नहीं हुआ है। द्वितीयतः 'ईक्षण'का कथन गौण अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है, ऐसी कल्पना करनेसे भी काम नहीं चलनेका ( ६ ) इस कारणसे श्रुतिने इस जगत्कारण ब्रह्मको आत्मा भी कहा है एवं जड प्रकृतिके सम्बन्धमें आत्मा शब्दका प्रयोग सांख्यद्वारा भी अनुमोदित नहीं है। तृतीयतः उस जगत्कारण ब्रह्ममें एकनिष्ठ होनेसे मोक्षलाभ होता है, इस प्रकारका उपदेश है। (७) जड प्रकृतिमें एकनिष्ठ होनेसे बन्धनकी ही पराकाष्ठा होगी, मोक्ष तो हो ही नहीं सकता। चतुर्थतः सांख्यका कथन है कि हेय प्रकृतिका त्याग करना ही होगा; प्रकृतिका संस्पर्श वर्जित करके ही आत्माको मुक्ति-लाभ करना

होगा। किंतु 'ब्रह्मका भी त्याग करना होगा, जगत्कारणको वर्जित करके मुक्ति लाभ करना होगा'—ऐसा श्रुति नहीं कहती।

( ८ ) इसी प्रकारकी और भी कतिपय युक्तियोंद्वारा सूत्रकारने दिखलाया है कि अचेतन प्रधान कारणवाद शास्त्रवाक्य समूहका तात्पर्य नहीं हो सकता, चेतन-कारण—वाद ही शास्त्रका तात्पर्य है, शास्त्रके अनुसार जगत्कारण ब्रह्मको चेतन, स्वयंज्योति, स्वतन्त्र, स्वराट् मानकर स्वीकार करना होगा।

इसके पश्चात् सूत्रकारने और भी दिखलाया है कि जगत्कारण ब्रह्म शास्त्रके अनुसार अचेतन प्रधानसे ही भिन्न है, ऐसा नहीं है, सांख्योक्त चैतन्यस्वरूप आत्मा या पुरुषसे भी स्वरूपतः भिन्न है। सांख्योक्त निर्विकार चैतन्यस्वरूप आत्मा या पुरुषको जिस प्रकार दुःख भी नहीं है, उसी प्रकार आनन्द भी नहीं है, दुःख और आनन्द दोनों ही विकारशील-बुद्धिसे अनुभूत होते हैं। किंतु श्रुतिका जगत्कारण ब्रह्म है। 'आनन्दमयोऽभ्यासात्'। श्रुतिवाक्यसमूहने ब्रह्मको आनन्दमय मानकर पुनः-पुनः उसका निरूपण किया है। 'मयट्' प्रत्यय रहनेसे विकारका ही द्योतक हो, ऐसा नहीं है, प्राचुर्यके अर्थमें भी 'मयट्'प्रत्यय होता है एवं ब्रह्मको आनन्दमय मानकर उसके स्वरूपगति अखण्ड-अनन्त आनन्दका भी निर्देश किया गया है। ( १४ )* सुतरां ब्रह्म निर्विकार-चिदानन्दमय है। केवल इतना ही नहीं, उसका समस्त जीवोंके आनन्दके हेतुके रूपमें भी वर्णन किया गया है। ( १५ ) जितने जीव जितना आनन्द सम्भोग करते हैं, जीवनमें जिस आनन्दके न रहनेपर जीवसमूहका बचे रहना ही सम्भव नहीं होता, उस सारे आनन्दका वह उत्स है—वह है, अखिलरसामृत-सिन्धु।

तदनन्तर यह जगत्कारण आनन्दमय चैतन्यस्वरूप ब्रह्म समस्त जीवोंके आत्मारूपमें वर्णित होनेपर भी वह जीवात्मासे भिन्न है; जीवात्मा ही इस ब्रह्मके नामसे अभिहित नहीं हुआ है, इसको सूत्रकारने कई सूत्रोंमें स्पष्ट भाषामें व्यक्त किया है। उन्होंने कहा है—'नेतरोऽनुपपत्तेः'—इतर ( अर्थात् जीवात्मा, जो स्वभावतः ही ब्रह्मसे भिन्न हैं ) आनन्दमय ब्रह्मके नामसे अभिहित नहीं हो सकता; क्योंकि वह उत्पन्न नहीं होता; ब्रह्मके जो सब असाधारण धर्म हैं, वे जीवमें सम्भव नहीं हैं एवं जीवका जो जीवत्व है, वह भी ब्रह्मको स्पर्श नहीं कर सकता। ( १७ ) साथ ही 'भेदव्यपदेशाच्च' ब्रह्म और जीवका भेद भी श्रुतिमें सर्वत्र उपदिष्ट हुआ है। ( १८ ) तृतीयतः 'अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति'—श्रुति इस आनन्द-मय ब्रह्ममें जीवकी ( मोक्षावस्थामें ) तद्भावापत्तिका उपदेश करती है। जीव ही यदि ब्रह्म हो तो फिर 'तद्योग'का कोई अर्थ नहीं रह जाता। ( २० ) परवर्ती दो सूत्रोंमें सूत्रकारने और कहा है कि श्रुतिने उपासकगणको अपने अन्तर्हृदयमें और आदित्यादिके अन्तर्यामी रूपमें जिसका ध्यान करनेका उपदेश दिया है, वह और यह ब्रह्म दोनों ही जीवात्मा नहीं हैं; क्योंकि उन सबके स्थलोंपर जगत्कारण आनन्दमय चेतन ब्रह्मके ही असाधारण धर्मोंका उल्लेख हुआ है एवं जीव और ब्रह्मका भेद सुस्पष्टरूपमें निर्देश किया गया है।

प्रथम अध्यायके प्रथम पादके अवशिष्ट दस सूत्रोंमें सूत्रकार श्रुतिवाक्य-समूहके पौर्वापर्यादिका विचार करके दिखलाया है कि जिन सब स्थलोंपर आकाश किंवा प्राण अथवा ज्योतिः या अन्य किसी नामसे जगत्कारणका निर्देश किया गया है, वहाँ इन सब शब्दोंका साधारण लौकिक अर्थ ग्रहण नहीं किया गया है। सुतरां बादरायणके मतमें सांख्योक्त-प्रकृतिसे विलक्षण और जीवदेहाधिष्ठाता आत्मासे विलक्षण नित्य-

* ये संख्याएँ वेदान्तदर्शन अध्याय १, पाद १ के सूत्रोंकी निर्देशिका है। पृ० १३१की संख्याएँ २य पादकी हैं।

नन्दमय सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म है । विश्वजगत्के सृष्टि–स्थिति–प्रलयका एकमात्र कारण है—श्रुति-वाक्योंके समन्वयद्वारा यही प्रतिपादित होता है ।

द्वितीयपादमें भी उन्होंने विभिन्न श्रुति-वाक्योंका उल्लेख अथवा इङ्गित करके प्रतिपादन किया है कि श्रुतिमें सर्वत्र ब्रह्मका ही उपदेश प्रसिद्ध है । ( १ ) वह सब गुण-विशिष्ट है । ( २ ) श्रुतिवाक्य-समूहमें जो विवक्षित हैं, वे सब एकमात्र ब्रह्ममें ही उत्पन्न होते हैं; जीवात्मामें उन सब गुणोंका होना सम्भव न मानते हुए जीवात्माको ब्रह्मके स्थानपर ग्रहण करना युक्तिसंगत नहीं है । ( ३ ) जीवात्मा उपासक है और ब्रह्म उपास्य है, जीवात्माका लक्ष्य है ब्रह्मकी प्राप्ति और ब्रह्म है उसका प्राप्य—ये दो कथन भी एक नहीं हो सकते । ( ४ ) ब्रह्म और जीवात्माके भेदके सम्बन्धमें श्रुतिका भाव अत्यन्त स्पष्ट है—'असाधारण' । ( ५ ) स्मृति भी उसीका समर्थन करती है । ( ६ ) ब्रह्म प्रत्येक जीवके अन्तर्हृदयमें विराजमान होकर भी जीवात्माके समान परिच्छिन्न नहीं है, आकाशकी भाँति सर्वव्यापी है । वह जीवात्माके समान सुख-दुःखका भी भोग नहीं करता । अपने अनन्य साधारण वैशिष्ट्यके कारण समस्त पाप-पुण्य एवं सुख-दुःखादिसे असंस्पृष्ट रहकर ही वह जीवके हृदयमें वास करता है । ( ७-८ ) स्थावर और जङ्गम सभी पदार्थोंका वह आत्मा भोक्ता है—उसीके भीतर सबका लय होता है । ( ९-१० ) एक हृदयगुहामें दो आत्मा—जीवात्मा और परमात्मा वास करते हैं, उसका ऐसा रूप श्रुतिमें देखा जाता है । ( ११ ) ये दोनों आत्मा एक दूसरेसे भिन्न और विलक्षण स्वभावके हैं, एक है कर्म-फलदाता और दूसरा है मात्र द्रष्टा, एक है देहाभिमानी और दूसरा है अभिमानशून्य एक है—परिच्छिन्न और दूसरा है विभु । एक है उपासक और दूसरा है उपास्य, एक दूसरेको जान लेनेसे महाशान्ति लाभ करता है—इस प्रकार दोनोंका वैशिष्ट्य शास्त्रमें वर्णित हुआ है । ( १२ ) चक्षुप्रभृति इन्द्रियोंके अन्तर्यामीरूपमें भी श्रुतिने आनन्दमय ब्रह्मका ही वर्णन किया है, तद्भिन्न जीवात्माकी बात नहीं कही है । ( १३-१८ ) इसके अतिरिक्त पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आदित्य इत्यादिके अन्तर्यामी आत्मारूपमें भी जीवात्माके आराध्य उस ब्रह्मका ही श्रुतिने निर्देश किया है; शरीर आत्माका नहीं । ब्रह्म और जीवात्माका भेद श्रुतिने सर्वत्र ही सुस्पष्टरूपमें व्यक्त किया है । ( १९-२१ ) 'अदृश्यादिगुणक' ( अदृश्यत्वप्रभृति ब्रह्मके गुण ) बतलाकर श्रुतिने ब्रह्मका ही स्वरूप निर्धारण किया है एवं भूतयोनित्व ( जगत्कारणत्व ), सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्ता आदि उसीके धर्म मानकर निर्देश किया है ।

( रूपान्तरकार—श्रीरतनलालजी गुप्त )

## ब्रह्मानन्दकी अनिर्वचनीयता

गई पूतरी नोंनकी, थाह सिंधुकी लैन ।
पैठत ही घुलमिल गयी, पलट कहे को बैन ॥
पूतरी नोंनकी दौरि गई, ढिग सागरके जल जाय थहावै ।
पाय भली विधि भेद सबै, तब आयके ज्ञानकी बात बतावै ॥
पैठत आपहि आप भई, निज नाम स्वरूप समूल नसावै ।
वह ज्ञानमयी किमि लौटि सकै, अरु कौन सुनै समुझै समझावै ॥

( संकलित )

# विद्या-प्राप्तिके महत्त्वपूर्ण सूत्र

[ एक कल्याणप्रेमी ]

विद्यासे अमृत-तत्त्वकी प्राप्ति होती है—'विद्यया-ऽमृतमश्नुते।' ( शुक्लयजुः ४० । १४, ईशोप० १। ११, मनु० १२ । १०३ ) । इसीलिये विद्याका मुख्य फल विमुक्ति—अज्ञानसे मुक्ति है । कहा भी गया है—'सा विद्या या विमुक्तये' (विष्णुपुराण १ । १९ । ४१ ) किंतु विद्या-प्राप्तिके लिये भले ही वह लौकिक विद्या ही क्यों न हो, शिक्षा-संस्थाओंमें प्रवेश प्राप्त कर लेनामात्र ही पर्याप्त नहीं है; उसके लिये महा-पुरुषोंद्वारा निर्दिष्ट कुछ विशेष नियमोंका पालन करना भी आवश्यक है । विद्या-प्राप्तिके तीन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं—श्रद्धा, तत्परता एवं संयतेन्द्रियता । विद्यार्थियों-के लिये ये तीनों सूत्र सफलताके परम साधन हैं । इन साधनोंको अपनानेपर विद्यार्थियोंके हृदयमें विद्या स्वयं स्फुरित होती है । पहला सूत्र है—श्रद्धा ! गुरुके प्रति पूज्यता एवं उत्तमताका भाव एवं विश्वास होना ही 'श्रद्धा' है । गुरुके प्रति विद्यार्थीका श्रद्धावान् होना आवश्यक है । श्रद्धावान् विद्यार्थीमें विनय, सेवा-परायणता एवं सहिष्णुता आदि गुण होते हैं । श्रद्धावान् विद्यार्थी गुरुके प्रति कभी तनिक भी रूक्ष व्यवहार नहीं करता, उसकी जिज्ञासा सदैव विनययुक्त होती है । वह गुरुको नित्य प्रणाम करता है एवं उनकी सेवा करनेमें अधिक रुचि रखता है ।

दूसरा सूत्र है—तत्परता । तत्परताका तात्पर्य है—लगन एवं परिश्रम । श्रद्धाके साथ-साथ विद्या सीखनेकी लगन एवं उसके लिये परिश्रम करना भी नितान्त आवश्यक है । अन्यथा श्रद्धाके नामपर शिथिलता, आलस्य एवं अकर्मण्यता आ जानेका भय रहेगा । तीसरा सूत्र है—संयतेन्द्रियता । संयतेन्द्रियताका अर्थ है मन एवं इन्द्रियोंको वशमें रखना । उनकी विषयोंसे विरक्ति हुए विना श्रद्धा एवं तत्परता दोनों ही न तो पनप ही सकती हैं और न स्थायी ही रह सकती हैं । चञ्चल मन इन्द्रिय एवं चित्तसे ज्ञान वैसे ही निकल जाता है, जैसे भिश्तीके पेटसे जल—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥
( मनु० २ । ९९ )

प्राचीन कालमें अधिकांश विद्यार्थियोंमें संयमादि गुण विद्यमान रहते थे । इसी कारण उस समयके विद्यार्थी मेधावी होते थे । उस समय संयतेन्द्रियता विद्यार्थियोंमें सहज ही पायी जाती थी । विद्याध्ययनके समय वे लोग ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते थे । खान-पानका पूरा संयम रहता था । मनको चञ्चल करनेवाले पदार्थोंसे विलकुल परहेज किया जाता था । विद्यार्थियों-का जीवन त्यागमय होता था । उनका जीवन श्रद्धामय होता था और उनका लक्ष्य विशुद्ध ज्ञान होता था । भगवद्भक्त गुरुजन विद्यार्थियोंमें दृढ़ता लानेके लिये उनकी परीक्षा लिया करते थे और कभी-कभी उनके साथ कठोरता भी वरतते थे, परंतु उन दिनों आस्तिक विद्यार्थिवर्ग सहनशील होता था, कठोरताकी कसौटीपर वह खरा उतरता था ।

एकलव्य, उपमन्यु, आरुणि इत्यादि अब भी अपनी गुरुनिष्ठाके लिये स्मरणीय हैं । बालक आरुणिमें श्रद्धा, तत्परता एवं संयतेन्द्रियताकी पराकाष्ठा थी । गुरुवर धौम्यकी आज्ञा ही उसका जीवन था । वर्षाकालमें गुरुजीके खेतकी मेंड़ टूट गयी थी । यदि खेतकी मेंड़ ठीक करके बाँधको पक्का न किया जाता तो खेतीके नष्ट होनेकी पूर्ण आशङ्का थी । गुरुजी चिन्तित हो उठे । बालक आरुणि इसे कैसे सहन

कर सकता था ? गुरुवरकी आज्ञा मिली और वह खेतकी मेंड ठीक करनेको तैयार हो गया। आरुणिके पहुँचते-पहुँचते खेतका बाँध टूट चुका था। वर्षा तेजीसे हो रही थी। अब बेचारा अकेला आरुणि क्या करता ? एक ओर खेतके बाँध ठीक करनेकी गुरु-आज्ञा थी और दूसरी ओर थी वर्षा एवं ठंड। कोई मार्ग न देखकर अन्तमें आरुणि स्वयं ही खेतकी मेंड़ बनकर लेट गये। खेतमें पानी जाना बंद हो गया; परंतु ठंड एवं वर्षाके पानीसे वे मूर्च्छित-से हो गये। रात्रि बीती, दूसरा दिन आया, आरुणि खेतकी मेंड़ ठीक करके नहीं लौटे। अध्ययन-कालमें आरुणिको अनुपस्थित देखकर गुरुजी चिन्तित हो उठे। आरुणि बेटा! आरुणि बेटा! पुकारते-पुकारते गुरुजी खेतमें जा पहुँचे। पानीसे सर्वथा मूर्च्छित अवस्थामें खेतकी मेंड़ बने आरुणिको देखकर गुरुजी अपने आँसू रोक न सके। उन्होंने आरुणिको उठाकर हृदयसे लगा लिया और आश्रममें आये। उपचारसे आरुणि होशमें आये। 'बेटा! अब तुम्हें अध्ययनकी आवश्यकता नहीं है! तुम्हें बिना अध्ययन किये ही विद्याएँ प्राप्त हो जायँगी।' गद्गदकण्ठसे गुरुजीने आशीर्वाद दिया। गुरुजीके आशीर्वादसे आरुणिको सचमुच बिना पढ़े ही समस्त विद्याओंका ज्ञान हो गया और वे वेदके पारंगत विद्वान् हुए। यद्यपि आजका छात्र विद्याध्ययन एवं गुरु-सेवाका समन्वय नहीं कर पाता है, परंतु ये उदाहरण असत्य नहीं हैं। आरुणिने उपर्युक्त तीनों सूत्रोंसे ही समस्त विद्याएँ प्राप्त कर ली थीं।

अभी इस युगकी भी एक ऐसी ही घटना है। उस समय भारतपर अंग्रेजोंका शासन था और कलकत्ता भारतकी राजधानी थी। आज विश्वमें रायल सोसाइटी तथा एसियाटिक सोसाइटी नामकी विज्ञान-विद्याकी शाखाएँ सर्वत्र व्याप्त हैं। १७७२में सर विलियम जोन्स लंदनकी रायल सोसाइटीके फेलो बने। फिर १७८०में उन्होंने स्वयं बैटेवियामें एक एसियाटिक सोसाइटीकी स्थापना की और १७८४ में इन्हीं जोन्स साहबने कलकत्तामें एसियाटिक सोसाइटीकी स्थापना की। लार्ड टीनमाउथने इनकी जीवनी छः जिल्दोंमें विस्तारसे लिखी है। विलियम साहब भारतकी विद्याओंकी गुणगाथाएँ सुनकर इसके साहित्यसे बहुत प्रभावित हुए। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि यदि विश्वको कोई अमूल्य ज्ञान-सम्पदा दे सकता है तो वह भारतवर्ष ही है। भारतवर्षके साहित्य, अध्यात्म, जीवन, दर्शन सभी आदर्श हैं। अतः इनका अध्ययन आवश्यक था। वे उन दिनों विश्वकी १२ प्रमुख भाषाओंके जानकार विद्वान् थे। १७७१ ई० में इनका पर्शियन ग्रामर प्रकाशित हुआ। अब वे प्राच्य ज्ञान एवं संस्कृत भाषाकी जानकारीके लिये भारत आना चाहते थे। अन्तमें वे उन दिनों कलकत्ता स्थित भारतके सुप्रीमकोर्टके न्यायाधीश बनकर भारत आये।

उस समय भारतका सम्पूर्ण ज्ञान देवभाषा संस्कृतमें ही था। अन्य भारतीय भाषाओंमें पुस्तकें नगण्य-सी थीं। संस्कृत ही विश्वकी सबसे पुरातन समृद्ध भाषा है। सर विलियम जोन्सको संस्कृत भाषाका ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रबल इच्छा हुई और चार्ल्स विकिल्ससे उन्हें इसकी जानकारीमें पर्याप्त सहयोग मिला। फिर उनकी मित्रता कलकत्ताके कृष्णनगरके महाराजा श्रीशिवचन्द्रसे हुई। उनकी संस्कृत-ज्ञानकी अभिलाषा तीव्र थी और उन्होंने अपने मित्र राजा साहबके सम्मुख यह इच्छा व्यक्त की। कहते हैं—राजा साहब उनके लिये किसी संस्कृत विद्वान्‌की खोज करने लगे, जो उन्हें संस्कृत पढ़ा सकते। उस समयके संस्कृतके विद्वान् लोग विदेशियोंके सम्पर्कमें आनेमें अरुचि रखते थे, उन्हें उनके सङ्गसे समाजकी भर्त्सनाका भय था। अतः कोई भी विद्वान् सर विलियम जोन्सको संस्कृतकी शिक्षा देनेके लिये राजी नहीं हो रहा था। राजा साहबके बहुत चेष्टा करनेपर अन्तमें कविभूषण श्रीरामलोचनजी इस कार्यके लिये राजी हुए। उन्होंने सर विलियम जोन्सको संस्कृत पढ़ाना स्वीकार किया।

कविभूषणजीने सर्वप्रथम सर विलियन्सको भारतीय विद्यार्थियोंकी गरिमा एवं श्रद्धा, तत्परता और संयते-

न्द्रियताकी महिमासे अवगत कराया । सर विलियम जोन्सने भारतीय विद्यार्थियोंके ढंगको अपनाया । उन्हें तो संस्कृतका ज्ञान प्राप्त करनेकी तीव्र लालसा थी। सर विलियम जोन्सने अपनी कोठीके नीचेका कमरा बिलकुल भारतीय ढंगसे बनवाया । उस कमरेमें गुरुवर कविभूषणजीके लिये एक उच्च आसन लगवाया गया एवं सर विलियमने अपने लिये गुरुजीसे नीचे फर्शपर आसन लगाया । कमरा नित्य गङ्गाजलसे धोकर पवित्र किया जाता था । सर जोन्समें अपने गुरुजीके प्रति पूर्णरूपसे श्रद्धा थी । वे उनका पूर्णरूपसे आदर करते थे । उन्हें नित्य प्रणाम करते और समय-समय-पर उनकी सेवा करनेको तैयार रहते थे । इनकी विद्याध्ययनकी लगन ऐसी थी कि वे अपने गुरुजीके संकेतमात्रसे पाठ समझनेकी चेष्टा करते । अपना पाठ सीखनेमें विलियम साहबने लगन एवं परिश्रममें किसी प्रकारकी कमी न रखी । इतना ही नहीं, संयतेन्द्रियताके लिये सर विलियम जोन्सने अभक्ष्य वस्तुएँ तथा मदिरा आदिका भी सर्वथा त्याग कर दिया था । वे प्रातःकाल केवल थोड़ी-सी चाय लेकर अध्ययनमें लग जाते थे । इन्हीं कारणोंसे गुरुजीके आशीर्वादसे सर विलियम जोन्स एक दिन संस्कृतके पूर्ण विद्वान् हो गये । उन्होंने स्वयं संस्कृतके कई ग्रन्थोंका अंग्रेजीमें अनुवाद भी किया और उनकी सोसाइटीसे तो अबतक हजारों संस्कृत तथा भारतीय भाषाओंके ग्रन्थ एवं जर्नलके अङ्क प्रकाशित हो चुके हैं । इनमें इनके स्वयं लिखे हुए आलोचनात्मक निबन्ध हैं । इनका शकुन्तलाका अनुवाद तथा तत्सम्बन्धी हस्तलेखों एवं मशालोंका संग्रह अद्वितीय श्रमका कार्य था । उसीका आश्रय लेकर मोनियर विलियम्ससाहबने शकुन्तलाका 'Hundred Best Books of the World'में उसका शुद्धतम मूल पाठ एवं अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित कराये । फिर तो सारा पाश्चात्य जगत् इसपर मुग्ध हो गया । सुतरां सर विलियम जोन्सकी सफलतामें अनेक गुणोंमें उपर्युक्त तीनों सूत्र ही मुख्य थे ।

सर विलियम जोन्स ही क्यों ? आज भी कोई विद्यार्थी इन सूत्रोंको अपनाकर अवश्य ही विद्याध्ययनमें सफलता प्राप्त कर सकता है । परंतु आजके अधिकांश विद्यार्थी इन सूत्रोंसे दूर होते जा रहे हैं । इन सूत्रोंके प्रति उनके मनमें केवल उपेक्षा ही नहीं है; कुछ घृणा भी है और श्रद्धाका स्थान तो संशयने ले लिया है । यहाँतक कि विद्यार्थीलोग गुरुको अपनेसे भी अयोग्य समझते हैं । इससे विद्या-लाभ दुर्लभ है । तत्परताके स्थानपर भी अनुशासनहीनता आ गयी है । दिन-प्रतिदिन विद्यार्थियोंमें अनुशासनहीनता एवं उच्छृङ्खलता बढ़ती ही जा रही है । वे लगन एवं परिश्रमको भूल-से गये हैं । नकल-झगड़ा आदि तथा परीक्षामें उत्तीर्ण होनामात्र ही आजके विद्यार्थियोंका लक्ष्य रह गया है । नकल करते समय यदि शिक्षक उन्हें पकड़ता है तो विद्यार्थीगण केवल उनकी पिटाई ही नहीं करते, बल्कि प्राणतक लेनेके लिये उतारू हो जाते हैं । संयतेन्द्रियताकी तो आजके विद्यार्थी आवश्यकता ही नहीं समझते । उनकी समझमें विद्यासे तप या संयतेन्द्रियताका कोई सम्बन्ध नहीं है । छात्रोंके लिये खान-पानकी शुद्धिका कोई भी अर्थ नहीं है । दिन-प्रतिदिन विद्यार्थियोंमें अभक्ष्य वस्तुएँ—मांस-अंडे एवं मदिरा आदिका प्रचार बढ़ रहा है । इन अभक्ष्य वस्तुओंका प्रभाव उनके मन एवं इन्द्रियोंपर पड़ता है, जिससे वे चञ्चल होते हैं । भला चञ्चल मनका विषयासक्त विद्यार्थी मेधावी कैसे बन सकेगा ? अच्छा होता कि आजका विद्यार्थी विद्या-प्राप्तिके इन महत्त्वपूर्ण सूत्रोंपर पुनः ध्यान देकर विद्याध्ययनके अपने अमूल्य समयरूप धनका सदुपयोग करने लगते और अनुशासनहीनता और उच्छृङ्खलताको पास न फटकने देते । इस प्रकार 'विद्या ददाति विनयम्'का आदर्श पुनः स्थापित हो जाता।

# साधकोंके प्रति—

## [ सत् और असत् ]

**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'**
**( गीता २ । १६ )**

श्रीमद्भगवद्गीताके इस वचनानुसार असत्‌की सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं होता । दोनोंका निष्कर्ष तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने निकाला है । उन्होंने इसका अनुभव किया है । जिस तत्त्वको तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने देखा है, वही वास्तविक तत्त्व है । जिस वास्तविकताका विनाश अथवा अभाव नहीं होता, उस वास्तविकताका अनुभव सबको हो सकता है । वास्तविकता सदा-सर्वदा रहती है । उसमें किंचिन्मात्र भी कमी नहीं आती । केवल हमारा लक्ष्य उधर न होनेसे ही वह वास्तविक तत्त्व अप्राप्तकी तरह हो रहा है ।

विचार करनेपर हमें दीखता है कि संसार बदलता है । मनके भाव और इन्द्रियाँ बदलती रहती हैं । जितना भी मन-बुद्धिसे समझमें आता है, वह सब बदलनेवाला है । प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, इसमें किसीको कभी किंचिन्मात्र संदेह नहीं है । बड़े-से-बड़े विद्वान्, वैज्ञानिक, दार्शनिक और ऊँचे-से-ऊँचे विचारक यह सिद्ध नहीं कर सकते कि जितनी वस्तुएँ जाननेमें आती हैं, वे सब बदलती नहीं हैं । जाननेमें आनेवाली वस्तुएँ बदलती हैं, पर उन्हें जाननेवाला नहीं बदलता । अगर जाननेवाला ही बदलता हो तो बदलनेवालेको कौन और कैसे जानेगा ? इससे सिद्ध होता है कि जाननेवाला बदलता नहीं । वह वास्तविक तत्त्व नित्य, सदा, सर्वत्र और सबका है, उसीको परमात्मा कहते हैं ।

परमात्मापर तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंका जितना अधिकार है, उतना ही अधिकार साधारण-साधारण पुरुषका भी है । महापुरुष 'तत्त्वज्ञ' और साधारण व्यक्ति 'तुच्छ' क्यों कहलाते हैं ? महापुरुषोंने तत्त्वकी ओर ध्यान दिया है, इसलिये वे तत्त्वज्ञ कहलाते हैं । साधारण व्यक्ति सत्-तत्त्वसे विमुख होनेसे अपनेको पतित मानने लग जाते हैं । यदि वे भी सन्मुख हो जायँ तो अनन्त जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं—

**सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं ।**
**जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥**
**( मानस ५ । ४३ । १ )**

परमात्म-तत्त्वकी प्राप्तिके लिये निराश होना भी एक प्रकारसे महान् अपराध है और वह भी भगवान्‌के प्रति है, क्योंकि भगवान्‌ने कृपाकर मानव-शरीर उस परम तत्त्वको जाननेके लिये ही दिया है, किंतु मनुष्य बिना विचारे ही संसारमें फँस गया । इस बातसे दयालु भगवान्‌को भी तरस आता है । श्रीमद्भगवद्गीतामें वे कहते हैं—

**तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।**
**क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥**
**( १६ । १९ )**

'उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ ।' और—

'हे अर्जुन ! वे मूढ़ मुझको न प्राप्त होकर ही जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी नीच गतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं ।'

भगवान् आश्चर्य व्यक्त करते हैं—

**आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।**
**मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥**
**( गीता १६ । २० )**

अहो ! ये लोग अबतक मुझे प्राप्त नहीं कर सके और अधम गतिको प्राप्त कर रहे हैं । भगवान्‌को प्राप्त न करना महती हानि है । ( जिसका फल भोगना पड़ता है । ) श्रुति कहती है—

परमात्मतत्त्वको जाने बिना अन्य काम करना आत्मघात है । आत्मघाती महापापी होता है । उपनिषदोंमें कहा गया है—

'ये के चात्महनो जनाः' ( ईशोप० ३ )
'आत्महत्यारे अधोगतिको प्राप्त होते हैं ।'

इस तत्त्वको सबसे पहले जानना चाहिये । क्योंकि मानव-जीवनका सबसे प्रथम लक्ष्य यही है ।

मनुष्य-शरीरके प्राप्त करनेका उद्देश्य संग्रह और भोग है ही नहीं—

'एहि तन कर फल बिषय न भाई'

इस तत्त्वको जाने बिना यदि मानव-शरीर चला गया तो महान् हानि है । उस हानिकी पूर्ति किसी रीतिसे कभी होनेवाली नहीं है और परमात्माको छोड़-कर किसी-न-किसीका आश्रय लेते ही रहना पड़ेगा, अर्थात् सदा ही परतन्त्रता भोगनी पड़ेगी । इसीलिये समझदार व्यक्तिको चाहिये कि आज ही उस तत्त्वको समझनेके लिये तैयार हो जाय । उत्कट जिज्ञासा होनेपर इसे आज ही प्राप्त किया जा सकता है । भगवान्की घोषणा है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥
( गीता ४ । ३६ )

'यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है, तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जायगा ।'

संसारमें जितने भी पापी हैं, वे तीन भागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं । एक तो पापकृत ( पापी ), दूसरे पापकृत्तर ( पापियोंमें बड़े पापी ) और तीसरे पापकृत्तमः ( सम्पूर्ण पापियोंमें भी सबसे बड़े पापी ) । महान्-से-महान् पापी भी क्यों न हो, ज्ञानरूपी नौकामें बैठकर शीघ्र ही पाप-समुद्रसे तर जाते हैं ।

## अपना कौन है ?

सामग्री, सामर्थ्य, समय और समझ—ये चारों हमें मिले हैं, केवल सदुपयोग करनेके लिये । इन्हें अपनी या अपने लिये मानना इनका दुरुपयोग करना है ।

वर्णाश्रम, योग्यता एवं शास्त्राज्ञाके अनुसार हम जो कुछ भी आचरण करते हैं, उसमें परिवर्तनकी नहीं केवल परिमार्जनकी आवश्यकता है । जिन्हें हम अपना या अपने लिये मानते हैं, उनको थोड़ा भी परिवर्तित कर देना हमारे हाथकी बात नहीं । इन पदार्थोंको हम साथ लाये नहीं, साथ ले जा सकते नहीं, मनके अनुकूल बना सकते नहीं और जैसे हैं—वैसे भी रख सकते नहीं । यदि हमारा अधिकार चलता तो हम पदार्थोंको नष्ट होनेसे बचा लेते, शरीरको वृद्ध-रोगी न होने देते और मरने भी नहीं देते । अतः जिनपर हमारा अधिकार न चले, उन प्राकृत पदार्थोंको अपना मानना सरासर मूर्खता है ।

अपने, और अपने लिये तो केवल परमात्मा है । गोस्वामीजी कहते हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी ॥

यह जीव ईश्वरका अंश है । अतएव अविनाशी, चेतन, निर्मल और स्वभावसे ही सुखकी राशि है ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् भी यही कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥
( १५ । ७ )

अर्थात् इस देहमें यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है । ( और वही ) प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंका आकर्षण करता है । उत्तम मान्यता तो यह है कि परमात्मा भी मेरे लिये नहीं, किंतु मैं परमात्माके लिये हूँ । मुझे संसार, प्रकृति और परमात्मा किसीसे कुछ भी नहीं चाहिये । जो किसीसे कुछ नहीं चाहता, उसे परमात्मा अपना 'मुकुटमणि' बना लेते हैं ।

परमात्माका अंश यह जीव होकर तुच्छ प्राकृत पदार्थों-की इच्छा करके अपना पतन करता है; जनमता, मरता और दुःख पाता है । यदि हिम्मत करके यह अपने मालिक परमात्माको पहचान ले ( संसार बदलनेवाला है, और परमात्मा रहनेवाले हैं ) तो निहाल—कृतकृत्य हो जाय । यह विद्या उत्कट जिज्ञासामात्रसे प्राप्त होती है ।

# श्रद्धाकी महत्ता

( लेखक—पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र, काव्य-व्याकरण-सांख्य-स्मृतितीर्थ )

**श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः**

( गीता १७ । ३ )

भगवान् श्रीकृष्णने मनुष्यके स्वरूपका वर्णन करते हुए श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है कि मनुष्यकी आकृति और विचार उसकी श्रद्धाके अनुसार होते हैं । श्रद्धा गुणोंके भेदसे तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी ।

सत्त्वगुणप्रधान मनुष्यका स्वभाव शान्त होता है और उसकी आकृति भी प्रायः सौम्य होती है । रजोगुणकी प्रधानता होनेसे मनुष्यका स्वभाव उग्र होता है और वह कर्म करनेमें आसक्त रहता है । वह कभी शान्तिसे बैठे रहना पसंद नहीं करता ।

तमोगुणप्रधान मनुष्यका स्वभाव कठोर होता है और उसकी आकृति भयावह होती है । उसमें तमोगुणकी प्रधानता रहती है, इस कारण वह आलसी होता है । उसे निद्रा अधिक सताती है, उसे अपने कर्तव्यका ध्यान नहीं रहता, व्यर्थका विवाद और हिंसा अच्छी लगती है तथा उसकी प्रवृत्ति दुष्कर्ममें अधिक होती है ।

श्रद्धाके अनुसार ही मनुष्यको भोजन भी प्रिय होता है । स्वभावपर भोजनका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है । सत्त्वगुणप्रधान मनुष्यको आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिकी वृद्धि करनेवाले एवं रसीले, चिकने, स्थिर रहनेवाले और आह्लादकारक भोजन प्रिय होते हैं । ऐसे भोजनोंसे बुद्धि सत्त्वगुणी होती है । सत्त्वगुणी मनुष्य देवताओंकी आराधना करते हैं; क्योंकि देवतागण सत्त्वगुणप्रधान होते हैं, अतः वे सत्त्वगुणी भक्तपर शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं । देवतागण किसीको कष्ट पहुँचाना नहीं चाहते, प्रत्युत मनुष्योंसे पूजित होकर उनकी अभीष्ट-सिद्धिमें सब प्रकार सहायक होते हैं सत्त्वगुणी मनुष्यको दैवी-सम्पत्ति प्राप्त होती है । भगवान् श्रीकृष्णने दैवी-सम्पत्तिको संसाररूप दुःखालयसे मुक्त होनेमें प्रधान कारण बतलाया है—

**दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।**
**मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥**

( गीता १६ । ५ )

'अर्जुन ! दैवी-सम्पत्ति मोक्षमें तथा आसुरी-सम्पत्ति बन्धनमें हेतु मानी गयी है । तुम्हें तो दैवी-सम्पत्ति प्राप्त है, अतः तुम चिन्ता न करो ।'

दैवी-सम्पदाप्राप्त पुरुषके लक्षणका वर्णन करते हुए भगवान्ने कहा है—

**अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।**
**दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥**
**अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।**
**दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥**

मनुष्यको जबतक पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं होता, तबतक उसे भगवान्के अस्तित्वमें भी दृढ़ विश्वास नहीं होता । उसके मनमें सदा संदेह बना रहता है, इसलिये भगवन्नाम-जप और सत्सङ्गद्वारा भगवद्-विषयिणी श्रद्धा और भगवान्के अस्तित्वमें दृढ़ विश्वास उत्पन्न करना चाहिये ।

कल्याणाभिलाषी मनुष्यको जीवनकी प्रारम्भिक अवस्थामें ही भगवन्नाम-जप और सत्सङ्ग प्रारम्भ कर देना चाहिये । अन्यथा कल्याणकी आशा पूरी न होगी । यद्यपि केवल मनुष्य ही नहीं, प्राणिमात्र सुख-शान्ति चाहते हैं, परंतु मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो श्रद्धापूर्वक भगवान्के गुणों और नामोंका गान करके अपना जीवन सुखी बना सकता है और आवागमनसे मुक्त हो सकता है । श्रद्धा भगवद्भक्तिमें सहायक होती है और भगवद्भक्ति कल्याण-प्रसवित्री है । अतः सात्त्विक श्रद्धाको प्राप्त करना प्रथम कर्तव्य है ।

आदिकालसे जीव जन्म-मृत्युके चक्रमें पड़कर चक्कर काट रहा है, किंतु अभीतक इसे शान्ति न मिली;

ऐसा प्रतीत होता है कि इसके पूर्व इसे साधन-धाम मनुष्ययोनि प्राप्त नहीं हुई थी। यदि प्राप्त भी हुई होगी तो कुसङ्गमें पड़कर इसने अपने कल्याणके लिये प्रयत्न नहीं किया होगा। अतः इस समय अपना कल्याण करनेका अच्छा सुयोग प्राप्त है; क्योंकि भगवान्‌ने अपनी अहैतुकी दयासे मनुष्य-योनि प्रदान की है। दूसरा सुयोग यह है कि कलियुगमें जन्म हुआ है। इस युगमें सबके लिये एक ही कल्याणप्रद उपाय बतलाया गया है, वह भी अत्यन्त सुगम—भगवान्‌के नामोंका कीर्तन। भगवन्नाम-कीर्तन विद्वान्-मूर्ख, ब्राह्मण-शूद्र, स्त्री-पुरुष, बालक-युवा—सभी कर सकते हैं। हाँ, श्रद्धा चाहिये।

मृत्यु आयु या परिस्थितिकी अपेक्षा नहीं करती, अतः जहाँतक हो सके, जीवनके आरम्भमें सत्सङ्ग और भगवन्नाम-कीर्तन करना चाहिये, तभी मृत्युके समय भी भगवत्स्मृति बनी रह सकती है और अन्तिम समयमें स्मृति हो गयी तो जन्म-मृत्युके चक्रसे छुटकारा मिल जायगा। श्रीमद्भागवतमें शुकदेवजीने कहा है—

**म्रियमाणैरभिध्येयो भगवान् परमेश्वरः।**
**आत्मभावं नयत्यङ्ग सर्वात्मा सर्वसंश्रयः॥**
**कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।**
**कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥**
(१२।३।५१)

अर्थात् जिन मनुष्योंकी मृत्यु निकट आ गयी हो, उन्हें सब प्रकारसे भगवान्‌का ही ध्यान करना चाहिये, क्योंकि सबके परम आश्रय एवं सर्वात्मा परमेश्वर अपना ध्यान करनेवालेको आत्मसात् कर लेते हैं। यह कलियुग यद्यपि दोषोंका भंडार है, तथापि इसमें एक बहुत बड़ा गुण भी है, वह यह कि भगवान् श्रीकृष्णके नाम-संकीर्तनमात्रसे मनुष्य आसक्तिरहित होकर परमपदको प्राप्त कर लेता है। अतः श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान्‌के नाम-संकीर्तनसे बढ़कर ऐहिक और पारलौकिक कल्याणके लिये दूसरा साधन नहीं है। श्रद्धाकी नींव विश्वासपर टिकती है। साधनामें विश्वास विशेष फलदायक होता है।

# भक्तकवि श्रीकृष्णदयार्णव

(लेखक—श्री प्रा० ज० रा० कस्तुरे, एम्० ए०, बी० टी०)

मध्यकालीन मराठी वाङ्मयमें कविवर कृष्णदयार्णवका नाम विशेषरूपसे प्रसिद्ध है। उनका निवासस्थान महाराष्ट्र प्रदेशमें कहाड़के निकट कोपारूढ़ गाँव था। उन्होंने संवत् १७३१ वि०में वैशाखशुक्ल अक्षयतृतीयाको जन्म लिया था। उनकी बाल्यावस्थाका नाम नरहरी था। वे माध्यंदिन शाखाके शुक्लयजुर्वेदीय ब्राह्मण थे। उनके पिताका नाम नारायण और माका नाम बहिश बाई था। उनकी बाल्यावस्थामें ही उनके पिताका स्वर्गवास हो गया। उस समय समूचे महाराष्ट्रमें सम्राट् औरंगजेबकी मुगलसेनाने आतङ्क फैला रखा था। परिस्थितिवश नरहरीको अपना गाँव छोड़कर मराठवाड़ेके आँबाजोगाई नामक शहरमें आश्रय लेना पड़ा। वहाँ उनकी श्रीगोविंद नामक एक सत्पुरुषसे भेंट हो गयी, जो 'आनन्द'-सम्प्रदायके महात्मा थे। गुरु गोविंदने नरहरीपर अनुग्रह किया और उन्हें उपदेश देकर कृतार्थ किया। उन्होंने नरहरीका नाम श्रीकृष्णदयार्णव रख दिया। गुरुने उन्हें गीता-भागवत, ज्ञानेश्वरी आदि ग्रन्थोंको पारायण करने तथा कोराल भिक्षापर निर्वाह करनेका उपदेश दिया। गुरुके उपदेशके अनुसार श्लोक गाते-गाते 'श्रीकृष्णदयार्णव समर्थ' उच्चारणकर मधुकरी माँगते थे। सदा 'जय जय श्रीरघुवीर समर्थ' के उच्चारण करनेवाले रामदासस्वामी स्वयं भी 'समर्थ' नामसे प्रसिद्ध हुए। वैसे ही श्रीकृष्णदयार्णवकी जय-जयकार कहनेवाले नरहरी भी आगे चलकर इसी नामसे प्रसिद्ध हुए। गुरुके बताये हुए मार्गपर चलते-चलते कृष्णदयार्णवके आयुके ५० वर्ष बीत गये।

राजा हो या रङ्क, किसीका भी कर्मभोग टल नहीं सकता। ईश्वरोपासनामें अपना काल व्यतीत करनेवाले

कृष्णदयार्णवको इसी आयुमें एक महारोगने ग्रस्त कर लिया । कुछ दिन औषधोपचार करनेमें व्यतीत हुए, परंतु रोग बढ़ता ही गया । अनुग्रह करनेवाले गुरु गोविन्द पहले ही चल बसे थे । अब तो बस—'**औषधं जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः**' की स्थिति आ गयी। मनमें एक ही विचार था । 'किस उपायसे यह भयानक रोग दूर हो ?' अन्तमें सपनेमें गुरु गोविन्दने दर्शन देकर कहा—'इस रोगसे तो क्या भवरोगसे ही मुक्ति देनेकी शक्ति भगवत्कृपामें है । अतएव तू भगवन्नाम-गुण-संकीर्तन अनन्य रूपसे कर । भगवान्‌की असीम कृपासे तेरी व्याधि मिट जायगी ।' वैसी ही बात एकनाथजीने भी स्वप्नमें दर्शन देकर कही—'मैंने श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धका विवेचन किया है । अब तू भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंका वर्णन करनेवाले दशम स्कन्धका विवेचन कर । भगवान्‌की कृपासे ही तुझे इस रोग तथा इस संसार-सागरसे भी मुक्ति मिलेगी ।'

उन्होंने गुरुके वचनमें विश्वास रखकर ५४ वर्षकी आयुमें श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धका मराठीमें सविस्तार विवेचन करनेका महान् कार्य प्रारम्भ किया । जिस आयुमें सर्वसाधारण मनुष्य अपने-अपने व्यवसायसे निवृत्त होनेकी इच्छा करता है, उसी आयुमें भगवान्‌की कृपापर पूरी श्रद्धा रखकर कृष्णदयार्णवने महान् कार्यका भार अपने कंधेपर रख लिया । संवत् १७८४में उन्होंने ग्रन्थका आरम्भ किया । उन्होंने श्रीधरस्वामीकी संस्कृत-टीकाके आधारपर 'हरिवरदा' नामसे दशम स्कन्धकी टीका ओवी ( पद्य ) बद्ध की, जिसका पूर्वार्ध श्रावण कृष्ण ८, वि० संवत् १७९१में पूर्ण हुआ । सात वर्षोंके बाद संवत् १७९१में दशम स्कन्धका पूर्वार्ध समाप्त हुआ । अबतक उनके शरीरकी व्याधि पूर्णरूपेण निवृत्ति हो गयी थी । महारोग-जैसे भयानक व्याधिपर भगवत्कृपारूपी ओषधि सफल हुई । कृष्णदयार्णवकी आयु अब साठ सालकी हो चुकी थी । दशम स्कन्धके उत्तरार्धपर टीका लिखनेका कार्य शेष रह गया था । इस महान् कार्यका आरम्भ करें या न करें, इस विचारमें २-३ मास बीत गये । अन्तमें निश्चय हुआ कि भगवान्‌की कृपा हो तो शेष ग्रन्थ-रचना भी पूरी होगी ही । बड़ी आशाके साथ नीरोग शरीर और उत्साहित मनसे कृष्णदयार्णवने उत्तरार्ध लिखना प्रारम्भ किया । उत्तरार्धके ४१ अध्यायोंमेंसे ३७ अध्यायोंका विवेचन पूरा हुआ । ३८वें अध्यायके कुछ श्लोक भी पूरे हो गये । परंतु अखण्डरूपसे १३-१४ वर्षतक निरन्तर लेखन करनेसे कृष्णदयार्णवका शरीर पुनः शिथिल हो गया । उनकी आयु भी ६६ वर्षकी हो गयी थी । अब उनके सामने एकमात्र चिन्ता यह थी कि मेरा भगवद्गुणानुवादका यह कार्य कहीं अधूरा तो न रह जायगा ।

श्रीकृष्णदयार्णव स्वामीके अनेक शिष्य थे । उनमेंसे सोलह शिष्य प्रमुख माने जाते थे । इन सोलह शिष्योंमें भी उत्तमश्लोक नामक शिष्य पट्टशिष्य माना जाता था । अपने गुरुके ग्रन्थका लेखन वही करता था । उसने कृष्णदयार्णवको बचन दिया 'गुरुजी ! आप कोई चिन्ता न करें । आपका यह कार्य मैं पूर्ण करूँगा ।' शिष्यके इस वचनसे कृष्णदयार्णवके मनको बड़ा आश्वासन मिला । उनकी चिन्ता मिट गयी । शान्त-वृत्तिसे भगवच्चिन्तन करते-करते कृष्णदयार्णव स्वामी मार्गशीर्ष शुक्ल, वि० संवत् १७९७में पैठणमें समाधिस्थ हो गये ।

अपने गुरुके परलोकवासके पश्चात् तीन वर्षतक लेखन करके उत्तमश्लोकने शेष अध्यायोंका विवेचन पूरा किया । ग्रन्थ पूरा हो गया । एक महान् संकल्प सत्य सृष्टिमें आ गया । इस ग्रन्थकी ओवी ( पद्य )-संख्या बयालिस हजार है । भगवान् श्रीकृष्णके सम्पूर्ण चरित्रका गुणानुवाद करनेवाला इतना विशाल दूसरा ग्रन्थ मराठीवाङ्मयमें कदाचित् 'प्रायः' नहीं है । इस दृष्टिसे 'हरिवरदा' ग्रन्थ भगवत्कृपाका एक अक्षर प्रतीक है । इतना ही नहीं, कविवर श्रीकृष्णदयार्णवने भगवत्कृपा और अपने गुरु श्रीगोविन्दके चरण-सन्निष्ठाके फलस्वरूप 'दत्तजननोत्साह,' 'विचारचन्द्रिका' और 'तन्मयानन्दबोध' आदि ग्रन्थोंकी भी रचना कर अपना जीवन सफल किया था । वह महान् ग्रन्थ तो केवल भगवत्कृपाबलसे ही पूरा हो सका।

# अमृत-बिन्दु

जिसने वासनाओंको नष्ट कर दिया—वही मुक्त है ।

× × × ×

जो मनुष्य भगवान्‌को छोड़कर दूसरी बातोंमें फँसा रहता है, वह अपने ही हाथों अपना गला काटता है ।

× × × ×

तीन कार्योंको मुख्य समझो—पाप-कार्यमें अत्यन्त ग्लानि, धर्म-कार्यमें उत्साह और प्राणिमात्रके साथ हृदयकी सहानुभूति ।

× × × ×

विषयोंसे विरक्त हुए बिना वास्तविक सुख मिल ही नहीं सकता ।

× × × ×

जिस मनुष्यको अधिकार, मालिकी प्यारी होती है, वह भगवान्‌को नहीं पा सकता ।

× × × ×

मुझपर भगवान्‌की कृपा कम है, ऐसा माननेवाला भूल करता है ।

× × × ×

जो सर्वत्र है, वह स्मरणमात्रसे मिलता है ।

× × × ×

संसारके संयोगमें भी वियोग है और परमात्मासे प्रेम होनेपर वियोगमें भी संयोग है ।

× × × ×

स्वार्थी एवं अभिमानी व्यक्तिके चाहनेपर भी, उसे शान्ति नहीं मिलती ।

× × × ×

भगवान्‌के साथ संसारको भी चाहते हैं, यही बड़ी भूल है ।

# उद्बोधन

लेत न सुख हरि-भक्ति कौ, सकल सुखनि कौ सार ।
कहा भयो नृपहूँ भएँ, ढोवत जग बेगार ॥
जिहिं विधि बीती बहुत गई, रही तनक-सी आय ।
मत कबहूँ सत्संग बिन, अब यह आयु बिहाय ॥
हिलत दंत, दृग-दृष्टि घटि, सिथिल भयो तन-चाम ।
तऊ बैठ सुमरत नहीं, काम गये हू राम ॥
को काकौं सुख देत है, कौन देत सुख दान ।
सब जीवनकी बुद्धिके प्रेरक श्रीभगवान ॥
नहीं अवस्था, धन नहीं, और न कहूँ निवास ।
तऊ न चहत मूढ़ मन बृन्दावन कौ वास ॥

—श्रीनागरीदासजी

# पढ़ो, समझो और करो

( १ )

## पुरुषार्थी बननेकी सत्-प्रेरणा

भारतके प्रथम राष्ट्रपति स्वर्गीय डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी बड़े ही विचारशील तथा दयालु पुरुष थे। राजनीतिमें सक्रियरूपसे आनेके पूर्व उन्होंने बहुत दिनोंतक पटना-हाईकोर्टमें वकालत भी की थी। प्रस्तुत घटना उन्हीं दिनोंकी है। एक दिन उनके पास एक व्यक्ति आया। राजेन्द्रबाबूने उससे पूछा—'क्या आप किसी मुकदमेमें मेरी राय चाहते हैं ? उस व्यक्तिने कहा—'जी हाँ! मेरी चाची विधवा है, उसके कोई संतान नहीं है। उनके पास बहुत जायदाद है। मैं उनकी जायदाद लेना चाहता हूँ।' राजेन्द्र-बाबू थोड़ी देरतक चुप रहे और फिर बोले—' खेद है! मैं इस मुकदमेमें आपकी कोई सहायता नहीं कर सकता। आप अपनी अनाथ चाचीकी सहायता कीजिये।' वे फिर थोड़ी देरतक चुप रहे, पुनः गम्भीर भावसे बोले—'आप एक असहाय विधवाकी जायदाद क्यों लेना चाहते हैं ? मनुष्यको अपने पुरुषार्थ तथा भाग्यका ही सहारा लेना चाहिये। बिना परिश्रम किये प्राप्त होनेवाली, परायी सम्पत्तिकी तो कभी आशा ही नहीं रखनी चाहिये। मनुष्यको सदा अपने स्वयंका ( सुप्त ) पुरुषार्थ जाग्रत्कर आगे बढ़नेका प्रयत्न करना चाहिये, किसीका बुरा चाहकर नहीं।' वह आदमी उनकी बात सुनकर अवाक् रह गया। वह विनम्रतापूर्वक अभिवादन करके शीघ्रतापूर्वक वहाँसे चला गया। घर पहुँचकर वह अपने मित्रसे बोला, 'आपने मुझे किसी वकीलके पास भेजा था या साधुके पास ?'

—श्रीशिवचरणसिंहजी चौहान

( २ )

## नासै रोग हरै सब पीरा···

**(श्रीहनुमानचालीसाके पाठका प्रभाव—एक सत्य घटना)**

घटना गत ३१ मार्च रात्रि ११ बजेकी है। मेरा छोटा पुत्र ( आयु ३ वर्ष ) अचानक सोते-सोते डर गया। भयके कारण उसे ज्वर भी हो गया। मिनट-मिनटके दौरान वह चीखता और गोदीमें लिपटता रहता। परिवारमें अचानक व्याकुलता व्याप्त हो गयी। पत्नीने आग्रह किया कि बच्चेको किसी ओझाके पास ले चलें; किंतु इतनी रातमें कहाँ जाया जाता। मैं नैराश्यमें घिर गया, फिर भी सर्वथा हताश नहीं हुआ। श्रीहनुमान-जीपर श्रद्धा-विश्वास होनेके नाते मेरे मनमें पुत्रके रोग-निवारणार्थ हनुमानचालीसाके पाठ करनेकी बात उभर आयी। मैंने निष्ठापूर्वक सच्चे हृदयसे सात बार हनुमान-चालीसाका पाठ और गायत्री-मन्त्रका जप किया। कुछ ही क्षणोंमें बच्चा निद्रामग्न हो गया। कुछ समय बाद उसका ज्वर भी पूर्णतः उतर गया। ठीक ही है—

'नासै रोग हरै सब पीरा। जपत निरंतर हनुमत बीरा॥'

श्रीहनुमान्‌जीके कृपा-प्रभावके सम्मुख हम दोनों पति-पत्नी नतमस्तक हो गये और बार-बार उन पवन-पुत्रका अश्रुपूरित नेत्रोंसे गुणगान करने लगे। इस घटनाके बाद तो हमारा श्रीहनुमान-चालीसाके पाठ तथा हनुमानजीकी महिमापर और भी श्रद्धा-विश्वास दृढ़ हो गया।

—श्रीबृजभूषणसिंहजी सचान

( ३ )

## देवीकी आर्तपर कृपा

यह घटना कुछ समय पहलेकी है। जाड़ेके दिन थे। मैं अपने मकानसे मोटरसाईकिलसे एल्०एच्०-शुगर-फैक्टरी काशीपुरके लिये एक जरूरी कामके लिये चला। मार्गमें वह चौराहा आया, जहाँसे सड़कें मुरादाबाद, पंतनगर, नैनीतालको और रामनगर, रानीखेत, कार्बेटपार्कको जाती हैं। वहाँ मुझसे किसीने कहा—'गर्जियादेवी चलो'—जो कि रानीखेत-रोडपर है और काशीपुरसे लगभग तीस मील दूरीपर है। बलात् मेरी मोटरसाईकिल उधर मुड़ गयी और मैं चलता गया।

रामनगर पहुँचकर एक थैलेमें प्रसादके लिये पेड़े-बताशे खरीदे और फिर चल पड़ा। रामनगरसे पहाड़ लग जाते हैं। सड़क पक्की है। गर्जियाके पाससे नीचे कोशी नदीतक लगभग एक मील पहाड़ी रास्ता है, उससे मैं नीचे उतरा।

गर्जियादेवी कोशी नदीके बीचमें लगभग दो-ढाई सौ फीट ऊँची चट्टान है। उसका घेरा लगभग सौ-डेढ़-सौ फुट होगा, जो पानीके बीचमें स्थित है। बड़े-बड़े तूफान और बाढ़ें आयीं, कोशी नदीकी पक्की दीवारें बहकर कहाँ गयीं, कुछ भी पता न चला, पर देवीकी चट्टान अपनी जगह जहाँ-की-तहाँ अटल है। ऊपर चढ़नेके लिये चट्टानें काट-काटकर सीढ़ियाँ बनायी गयी हैं। लोग झूड़ पकड़ करके जाते हैं। कोई-कोई भक्त झूड़में अपनी किसी कामना-सिद्धिके लिये गाँठ भी लगा जाते हैं और जब काम पूरा हो जाता है, तब आकर गाँठ खोलते और प्रसाद चढ़ाते हैं।

नदीमें जो कच्चा पुल बना लिया जाता है, उससे मैं ऊपर देवीजीके दर्शन करने, प्रसाद चढ़ाने गया। वहाँ बैठकर मैं स्तुति पढ़ने लगा। शाम होने जा रही थी। किसीने कहा—'अब जा'। मैं नीचे उतरकर मोटर-साईकिल पर आया। रास्तेमें पहाड़ी बच्चे, पुरुष, स्त्रियाँ जो जंगलमें झोपड़ी बनाकर रहते हैं, उन सबको प्रसाद बाँटकर चला। जब मैं रोडपर आया और मोटर-साईकिल रोककर वहाँ भी प्रसाद बाँटने लगा, तभी किसीके कराहनेकी आवाज ( बहुत धीमी )मेरे कानोंमें आयी। मेरे कान उधर गये और जिस ओरसे आवाज आ रही थी, उस ओर ही मैं जंगलमें घुस गया। कुछ दूर जानेपर देखता क्या हूँ कि नीचे गढ़ेमें एक नैपाली डुटियाल, ( जो जंगलमें लकड़ी-कटाईका काम करते हैं, ) वहाँ पड़ा है और कराह रहा है—बीच-बीचमें वह 'माँ दुर्गा-माँ दुर्गा' बोल रहा था। मैंने पास जा करके पूछा—कैसे पड़े हो ? वह रोने लगा और पैरपरसे अपना कोट हटाकर दिखाया। उसका पैर कुल्हाड़ीसे कट गया था और घावपर उसने अपना कोट डाल रक्खा था। मैंने फिर पूछा—कबसे पड़े हो ? उसने बताया—परसों मेरे कुल्हाड़ी लगी, तभीसे यहीं पड़ा हूँ। मैंने कहा—यहाँ तो शेर-चीते घूमते रहते हैं। उसने बताया—मुझे किसीने नहीं खाया। माँ दुर्गाकी कृपासे ही अबतक बचा हूँ। मैं उसको किसी तरह सहारा देकर रानीखेतवाली पक्की रोडपर लाया और जो बाकी प्रसाद बचा था, वह उसको खिला दिया। दो पहाड़ी-भाइयोंको पानी लानेके लिये पैसे दिये। वे पत्तोंके दोनोंमें पानी ले आये। उसे पानी पिलाया। अब समस्या उसको रामनगर अस्पताल ले जानेकी थी। बीच सड़कपर मैंने मोटर-साईकिल खड़ी कर दी; क्योंकि अँधेरा हो गया था। उसी समय लकड़ीसे लदा एक ट्रक वहाँ आया। उसको मैंने रोका और जख्मीको ले चलनेके लिये कहा। वह बोला—'पाँच रुपया लूँगा।' मैंने कहा—'पाँच ही ले लेना। फिर उसको ट्रकपर डालकर रामनगर लाया और वहाँसे अस्पताल ले गया। वहाँ मेरे एक मित्र डाक्टर पाण्डेय मिले। उनसे सारी बातें कहीं—उन्होंने उसे भर्ती करके कहा—'अब आप जाइये!' एक सप्ताह बाद जब मैं उसे देखने गया, तबतक वह बहुत कुछ अच्छा हो चुका था। कुछ दिनोंमें वह बिल्कुल ठीक हो करके अपने घर चला गया।

इस विषयमें मेरा यह दृढ़ मत है और उपर्युक्त स्वानुभव भी साक्ष्य है कि जो कोई भी माँ-दुर्गाको सच्चे हृदयसे पुकारता और आर्त-भावसे करुण-प्रार्थना करता है, उसके कष्ट वे अवश्य दूर करती हैं। 'देवि प्रपन्नार्तिहरे प्रसीद!' वे कभी स्वयं और कभी अपने किसी निज जनको निमित्त बनाकर अपने कृपापात्रका अभीष्ट-कार्य ( आर्त-हित ) इस प्रकार पूर्ण कर देती हैं।

—डॉ० श्रीरामशरणजी सारस्वत

# 'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क—'सदाचार-अङ्क'

## [ नम्र निवेदन ]

कल्याण'के आगामी विशेषाङ्क—'सदाचार-अङ्क'की यह प्रस्तावित विषय-सूची आपकी सेवामें अर्पित है। सदाचार-जैसे गम्भीर तथा व्यापक विषयकी सम्यक् पर्यालोचना इसके अन्तर्गत आ गयी है—यह कहना विषय-की गरिमासे अज्ञता प्रकट करना होगा। 'कल्याण'के सम्मान्य लेखकोंसे हमारा विनम्र अनुरोध है कि वे इस सूचीमें निर्दिष्ट विषयोंपर अथवा विवेच्य विषयकी प्रकृति एवं सीमासे सम्बद्ध अन्य विषयोंपर सारगर्भित तथा सुस्पष्ट लेख लिखकर या अपने सुधी मित्रों, परिचितोंको लिख भेजनेकी प्रेरणा देकर 'कल्याण'के विशेषाङ्कोंकी गौरवमयी परम्पराकी रक्षामें हमारी सहायता करें। इसके साथ ही सदाचारके प्रभाव और महत्त्वको प्रकट करनेवाली अनुभव-सिद्ध सच्ची घटनाओंका भी विवरण भेजकर हमारे आस्तिक पाठकोंको अपेक्षित सम्बल प्रदान करें। लेख-रचना अथवा घटना-विवरण हिंदी, संस्कृत, बँगला, गुजराती तथा अंग्रेजीमेंसे किसी भी भाषामें भेजा जा सकता है। लेख ऐसा होना चाहिये, जो महत्त्वपूर्ण तथ्यसे युक्त हो। लेख कागजके एक ही पृष्ठपर पर्याप्त हासिया छोड़कर प्राञ्जल भाषा तथा स्वच्छ अक्षरोंमें लिखा हुआ हो। लेखमें किसी भी सम्प्रदाय या व्यक्ति या किसी अन्य वाद अथवा सिद्धान्तपर तनिक भी आक्षेप न हो। लेख बहुत बड़ा भी न हो और सिद्धान्तका प्रतिपादक होनेके साथ रोचक भी हो। जहाँतक सम्भव हो, सम्बन्धित विशेषाङ्कके लिये लेखादि यथाशीघ्र एक मासकी अवधिके अंदर भेजनेकी कृपा करेंगे।

—सम्पादक

### प्रस्तावित विषय-सूची

**(क) परिभाषा एवं महत्त्व**

१–सदाचारविग्रह भगवान्‌की स्तुति
२–सदाचारकी परिभाषा और उसके लक्षण
३–सदाचार-महिमा
४–सदाचारके मूल तत्त्व
५–सदाचारके अन्तर एवं बाह्यपक्ष
६–मानव-संस्कृतिके विकासमें सदाचारका योगदान

**(ख) आकर ग्रन्थोंमें निरूपित सदाचार**

७–वेदोक्त सदाचार
८–वैदिक-कालीन सदाचार
९–ब्राह्मणग्रन्थोंमें सदाचार
१०–उपनिषदोंमें निर्दिष्ट सदाचार
११–पुराणोंमें निरूपित सदाचार
१२–उपपुराणोंमें चित्रित सदाचार
१३–वाल्मीकीय रामायणमें वर्णित सदाचार
१४–महाभारतमें वर्णित सदाचार
१५–गीतामें वर्णित सदाचार
१६–मनुस्मृतिमें वर्णित सदाचार
१७–वैष्णवधर्मशास्त्रोंमें वर्णित सदाचार
१८–श्रौत-स्मार्त तथा गृह्यसूत्रोंमें वर्णित सदाचार
१९–योगवासिष्ठमें वर्णित सदाचार
२०–महर्षियोंके सदाचारोपदेश
२१–ऋषि-पत्नियोंकी सदाचार-शिक्षा
२२–राजर्षियों (जनकादि)का सदाचारोपदेश
२३–बाइबिलके सदाचार-सूत्र
२४–कुरानकी सदाचार-संहिता
२५–गुरुग्रन्थ साहबका सदाचार-संदेश
२६–सत्यार्थ-प्रकाश तथा संस्कार-विधिकी सदाचार-शिक्षा

**(ग) भारतीय दर्शनोंमें सदाचार-मीमांसा**

२७–न्याय-दर्शनमें　　,,
२८–वैशेषिक　,,　　,,
२९–सांख्य　,,　　,,
३०–योग　,,　　,,
३१–मीमांसा　　,,
३२–शैवतन्त्रोंमें सदाचार
३३–शाक्ततन्त्रोंमें सदाचार
३४–वैष्णव तन्त्रोंमें सदाचार
३५–अद्वैत

**(घ) पाश्चात्य दार्शनिकोंकी सदाचार-मीमांसा**

३६–प्राचीन ग्रीक दार्शनिक-सुकरात, प्लेटो, अरस्तू-के मतमें सदाचार
३७–प्राचीन यूनानी दार्शनिक स्टोइक तथा

एपिक्यूरियनकी दृष्टिमें जीवनकी नैतिक समस्याएँ
३८–मध्ययुगीन दार्शनिक डेस्कार्टे, हाब्स, वर्कले, काण्ट, स्पिनोजा, हेगेल तथा स्पेन्सरके मतमें सदाचार
३९–आधुनिक दार्शनिक वर्गसों, विलियम जेम्स, लार्ड रसेल
( ङ ) साम्प्रदायिक सदाचार
४०–पाशुपतदर्शन या सम्प्रदायमें सदाचार
४१–वीरशैवमतमें सदाचार
४२–लिङ्गायतमतमें सदाचार
४३–शाक्तोंकी सदाचार-संहिता
४४–योगिनी कौलमतानुयायियोंमें सदाचार
४५–कापालिकोंका सदाचार-दर्शन
४६–अघोर-पंथका सदाचार-सम्बन्धी आदर्श
४७–सरभंग-सम्प्रदायमें सदाचार
४८–कौलाचार्योंकी सदाचारमीमांसा
४९–गुरु गोरखनाथके सदाचारसिद्धान्त
५०–वज्रयानी सिद्धोंके सदाचारसिद्धान्त
५१–सहजयानी बौद्धोंके सदाचारसिद्धान्त
५२–जैन मुनियोंके सदाचारसिद्धान्त
५३–सूफी सम्प्रदायके सदाचारसिद्धान्त
५४–श्रीनारायण(शांकर)सम्प्रदायके सदाचारसिद्धान्त
५५–श्री( रामानुज ) सम्प्रदायके सदाचारसिद्धान्त
५६–सनकसम्प्रदायके सदाचारसिद्धान्त
५७–ब्रह्म-सम्प्रदायके सदाचारसिद्धान्त
५८–वल्लभसम्प्रदायके सदाचारसिद्धान्त
५९–गौड़ीय मध्वसम्प्रदायके सदाचारसिद्धान्त
६०–राधावल्लभी सम्प्रदायके सदाचारसिद्धान्त
६१–हरिदासी सम्प्रदायके सदाचारसिद्धान्त
६२–वारकरी सम्प्रदायके सदाचारसिद्धान्त
६३–विश्नोई सम्प्रदायके सदाचारसिद्धान्त
६४–रामसनेही सम्प्रदायके सदाचारसिद्धान्त
६५–सतनामी सम्प्रदायके सदाचारसिद्धान्त
६६–उत्कली वैष्णवोंके पंचसखा सम्प्रदायकी सदाचार-शिक्षा
( च ) सदाचारविषयक प्रेरणाप्रद लेख
६७–सदाचार आत्मोत्थानका मूलाधार
६८–सदाचार और स्वधर्म
६९–सदाचार और युगधर्म
७०–सदाचार और सामान्य धर्म
७१–सदाचार और आपद्धर्म
७२–सदाचार और कर्मानुष्ठान
७३–सदाचार और भक्ति
७४–सदाचार और योग
७५–सदाचार और ज्ञानसाधना
७६–सदाचार और मर्यादा
७७–निर्गुणमार्गी संतोंके सदाचार-सिद्धान्त
७८–सगुणोपासक वैष्णव भक्तोंके सदाचार-सिद्धान्त
७९–आश्रम-व्यवस्थामें निहित सदाचार
८०–सूफी साधकोंकी सदाचार-निष्ठा
८१–गृहस्थीके सदाचार
८२–वानप्रस्थीके सदाचार
८३–संन्यासीके सदाचार
८४–सदाचार और सामाजिक नियन्त्रण
८५–सदाचार और संस्कार
८६–सदाचार—स्वास्थ्यरक्षाका अन्यतम साधन
८७–आहार और सदाचार
८८–सदाचार और वैयक्तिक जीवन
८९–पारिवारिक जीवन और सदाचार
९०–सदाचार और संयुक्त परिवार
९१–सामाजिक व्यवस्थामें सदाचार
९२–सदाचार और नागरिकता
९३–सदाचार और शासन-तन्त्र
९४–राजनीतिक जीवनमें सदाचार
९५–सदाचार और वाणिज्य-व्यापार
९६–राष्ट्रिय जीवनमें सदाचार
९७–अन्ताराष्ट्रिय जीवनमें सदाचार
९८–देशके पुनर्निर्माणमें सदाचारकी भूमिका
९९–सदाचार और आधुनिक शिक्षा
१००–विद्यार्थी-जीवनमें सदाचारका महत्त्व
१०१–सदाचार और युववर्ग
१०२–सदाचार और शिष्टाचार
१०३–सदाचार और स्त्रीशिक्षा
१०४–सदाचार और सहशिक्षा
१०५–अनुशासन-स्थापनामें सदाचारकी उपयोगिता
१०६–सदाचार और स्वेच्छाचार
१०७–सदाचार और अस्पृश्यता
१०८–सदाचारके साधक और बाधक-तत्त्व

१०९-सदाचारकी प्रेरणाभूमि—सत्सङ्ग
११०-सदाचार और विधि-व्यवस्था
१११-सदाचार और सिनेमा
११२-सदाचार और सामाजिक पर्यावरण
११३-सदाचार और साक्षरता
११४-सदाचार; आधुनिक विज्ञान तथा औद्योगिकी-के संदर्भमें
११५-सदाचार और लोकधर्म
११६-सदाचार और सामंतवाद
११७-सदाचार और प्रजावाद
११८-सदाचार और साम्यवाद
११९-सदाचार और सर्वोदय
१२०-सदाचार और सम्पूर्ण क्रान्ति
१२१-राष्ट्रकी भावात्मक एकताकी स्थापनामें सदाचारकी भूमिका
१२२-सदाचार और विश्वशान्ति

(छ)-सदाचारके प्रतिष्ठापक भगवदवतार एवं दैवी विभूतियाँ—
भगवान् शंकर
भगवान् विष्णु
भगवान् वाराह
भगवान् नृसिंह
भगवान् राम
भगवान् श्रीकृष्ण
भगवान् बुद्ध
भगवान् महावीर
पार्वती
सावित्री
अनुसूया
सीता
गार्गी
महारानी दुर्गावती
महारानी लक्ष्मीबाई
महारानी पद्मिनी
महारानी अहल्याबाई

(ज)-आदर्श सदाचारी ऋषि-
महर्षि वसिष्ठ
महर्षि याज्ञवल्क्य
महर्षि विश्वामित्र
महर्षि दधीचि
महर्षि वाल्मीकि
महर्षि व्यास
महर्षि शुकदेव
महर्षि विष्णुगुप्त (चाणक्य)
महर्षि पतञ्जलि

(झ)-आदर्श सदाचारी प्राचीन राजर्षि—
महाराज हरिश्चन्द्र
महाराज मान्धाता
महाराज भरत
महाराज भगीरथ
महाराज शिबि
महाराज जनक
महाराज भीष्म
महाराज युधिष्ठिर
महाराज विदुर

(ञ)-सदाचारके प्रहरी आचार्य तथा भक्त शंकराचार्य—
रामानुजाचार्य
निम्बार्काचार्य
मध्वाचार्य
वल्लभाचार्य
रामानन्द
कृष्णदास भयहारी
चैतन्य महाप्रभु
शेख फरीद
अभिनव गुप्त
गोरखनाथ
नामदेव
गुरु नानकदेव
कबीरदास
मलिक मुहम्मद जायसी
सूरदास
तुलसीदास
नरसी मेहता
समर्थ रामदास
रामचरणदास रामस्नेही
रमण महर्षि
रामकृष्ण परमहंस
स्वामी विशुद्धानन्द
स्वामी रामतीर्थ

(ट)-आदर्श सदाचारी सम्राट्, राजनेता तथा मनीषी—
महाराज विक्रमादित्य
महाराज अशोक
महाराज चन्द्रगुप्त
महाराज हर्षवर्द्धन
महाराज महाराणा प्रताप
छत्रपति शिवाजी
गुरु गोविन्दसिंह
लोकमान्य तिलक
महात्मा गांधी
महामना मालवीय
मा० स० गोलवलकर
रवीन्द्रनाथ ठाकुर
सा० एम० वेंकटरमन्
योगिराज अरविन्द
म० म० पं० शिवकुमार शास्त्री
म० म० पं० गोपीनाथ कविराज

(ठ)-सदाचारी महापुरुषोंके प्रेरक प्रसङ्ग—जीवन और चरित्रकी उपदेशप्रद बातें।

(ड)-सदाचारके अद्भुत चमत्कार—अनुभव-सिद्ध घटनाएँ।

(ढ)-प्राचीन-अर्वाचीन महापुरुषोंके अलौकिकता-पूर्ण चरित।

## भगवान् कूर्मके श्वासानिल आप सबकी रक्षा करें

दिव्यामृतार्थमथिते महाब्धौ देवासुरैर्वासुकिमन्दराभ्याम् ।
भूमेर्महावेगविघूर्णितायास्तं कूर्ममाधारगतं स्मरामि ॥
पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयना-
न्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः ।
यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद् वेलानिभेनाम्भसां
यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति ॥

( शारदातिलक १७ । १५१, श्रीमद्भागवत १२ । १३ । २ )

'दिव्य अमृतके लिये वासुकिसर्प और मन्दराचलके सहारे जब देवता और असुर महासमुद्रका मन्थन कर रहे थे, तब पृथ्वी बड़े वेगसे चक्कर खाने लगी थी । उस समय जिन भगवान् कूर्मने मन्दराचल और पृथ्वीको धारण कर रखा था, मैं उनका ध्यान करता हूँ ।

'जिस समय भगवान्ने कच्छपरूप धारण किया था, उस समय उनकी पीठपर बड़ा भारी मन्दराचल मथानीकी तरह घूम रहा था, उस समय मन्दराचलकी चट्टानोंकी नोकसे हुई खुजलाहटके कारण भगवान्को तनिक सुख मिला । वे सोने लगे और उनके श्वासकी गति तनिक बढ़ गयी । उस समय उस श्वासवायुसे जो समुद्रके जलको धक्का लगा था, उसका संस्कार आज भी उसमें शेष है । आज भी समुद्र उसी श्वासवायुके थपेड़ोंके फलस्वरूप ज्वार-भाटोंके रूपमें दिन-रात चढ़ता-उतरता रहता है और उसे अबतक विश्राम न मिला । भगवान्के वे परम-प्रभावशाली श्वासानुश्वास आप लोगोंकी रक्षा करें' ।

## साधक-संघ

आध्यात्मिक उन्नति ही मानव-जीवनका चरम एवं परम लक्ष्य है । इस सत्यको जाग्रत् रखने एवं भगवत्परायणता, दया, क्षमा, ब्रह्मचर्य आदि दैवी-गुणोंका मानव-समाजमें प्रचार करने-हेतु आजसे लगभग २९ वर्ष पूर्व 'साधक-संघ'की स्थापना की गयी थी । इसका सदस्य बननेके लिये कोई शुल्क नहीं देना पड़ता । सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं । प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक-दैनन्दिनी' दी जाती है, उसे ४५ पैसे मनीआर्डर या डाक-टिकट भेजकर प्रतिवर्ष मँगवा लेना चाहिये । साधक उसमें प्रतिदिन अपने नियम-पालनका विवरण लिखते हैं । सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको इसका सदस्य बनना चाहिये । विशेष जानकारीके लिये कृपया नियमावली मँगवाइये । संघसे सम्बन्धित किसी प्रकारका पत्र-व्यवहार नीचे लिखे पतेपर करना चाहिये ।

संयोजक-साधक-संघ, पत्रालय—गीताप्रेस, जनपद—गोरखपुर ( उ० प्र० )